वर्ष-1, अंक-2, अप्रैल-जून 2021

मुंबई विद्यापीठ

शोधावरी

मुंबई विश्वविद्यालय मुक्त प्रवेश आंतर्विद्याशाखीय पूर्व-समीक्षित शोध त्रैमासिकी

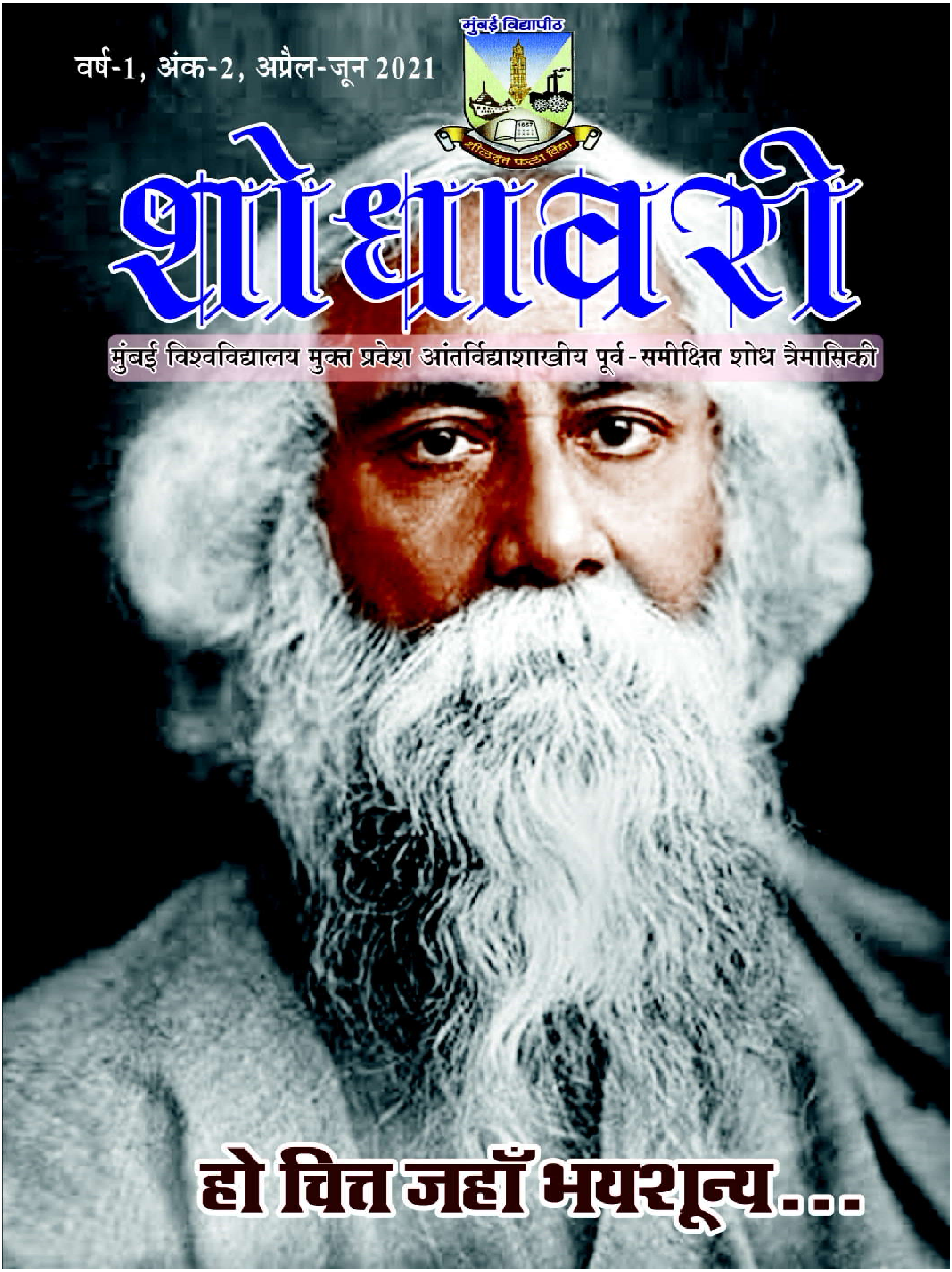

हो चित्त जहाँ भयशून्य...

शोधावरी

मुंबई विश्वविद्यालय मुक्त प्रवेश आंतर्विद्याशाखीय

पूर्व-समीक्षित शोध त्रैमासिकी

अप्रैल-जून 2021 वर्ष:1/अंक:2

प्रकाशक

अधिष्ठाता, मानविकी संकाय,

मुंबई विश्वविद्यालय

आंबेडकर भवन, विद्यानगरी परिसर,

कालिना, मुंबई-98

प्रधान संपादक

डॉ. राजेश खरात

अधिष्ठाता, मानविकी संकाय

rajeshkharat@mu.ac.in

रूपरेखा

- प्रतिष्ठित विचारकों, प्राध्यापकों, शोधार्थियों तथा दुनिया भर के विविध संस्थानों के रचनाकारों के सार्थक योगदान के लिए यह शोध पत्रिका एक खुला मंच है।
- अकादमिक मानदंडों के अनुरूप शोध-प्रपत्र विद्वतापूर्ण, तर्कसंगत, आलोचनात्मक, सृजनधर्मी, विश्लेषणात्मक निगमनात्मक स्वरूप के हो सकते हैं।
- टिप्पणियाँ, टीकाएँ अथवा समीक्षाएँ भी प्रस्तुत की जा सकती हैं।
- विशेषज्ञ समिति द्वारा पूर्व समीक्षित रचनाएँ ही प्रकाशित की जाएँगी।
- कतिपय अंकों हेतु शोध-प्रपत्र आमंत्रित किए जाएँगे यद्यपि अधिकांश अंकों हेतु शोध-प्रपत्र मँगवाए जाएँगे।
- प्रसंगानुसार कतिपय अंक विशेषांक होंगे।
- शोध-प्रपत्र मौलिक, विद्वतापूर्ण, सृजनात्मक तथा समीक्षात्मक समुचित संदर्भों सहित हों।
- शोध-प्रपत्र की शब्द सीमा 3500-4000 शब्दों की तथा समीक्षा की शब्द सीमा 1500-2000 होगी।
- शोध-प्रपत्र देवनागरी लिपि में आकृति अथवा यूनिकोड में 12 फॉन्ट आकार में हों।
- लेखक-तिथि संदर्भ-प्रणाली हेतु परिशिष्ट में दी गई सूचनाओं का पालन करें।
- शोध-प्रपत्र के साथ एक सत्यापन प्रमाण पत्र प्रस्तुत करें कि यह कृति मौलिक, अप्रकाशित तथा साहित्यिक चोरी से दोषमुक्त है।
- शोध-प्रपत्र, टिप्पणियाँ अथवा पुस्तक समीक्षाएँ बहुधा गोपनीय विशेषज्ञ समिति की सकारात्मक प्रतिक्रियाओं के अधीन होंगी।
- शोध-प्रपत्र निम्नलिखित पते पर प्रेषित करें-
  shodhawari@mu.ac.in

शोधावरी विवरणिका

शीर्षक	शोधावरी
प्रकाशन अवधि	त्रैमासिक
ISSN	आवेदित
प्रकाशक	अधिष्ठाता मानविकी संकाय, मुंबई विश्वविद्यालय
प्रधान संपादक	डॉ. राजेश खरात
कॉपीराइट	मुंबई विश्वविद्यालय
प्रकाशन आरंभ	जनवरी 2021
विषय	आंतर्विद्याशाखीय
भाषा	हिंदी
प्रकाशन की रूपरेखा	ऑनलाइन
फोन नंबर	9868766490
ई-मेल	: rajeshkharat@mu.ac.in
मोबाइल	9868766490
वेबसाइट	निर्माणाधीन
पता	: रूम नं.2, शंकर राव चव्हाण शिक्षक प्रशिक्षण अकादमी, मुंबई विश्वविद्यालय, कालिना परिसर, मुंबई - 98

''एक आदर्श समाज में अनेक अभिरुचियाँ सचेतन स्तर पर संप्रेषित और साझा की जाती हैं...दूसरे शब्दों में '*सोशल एन्डोस्मोसिस' अत्यावश्यक है।''

भारतरत्न डॉ. बाबासाहब आंबेडकर

*(*सामाजिक अंतराभिसरण)*

शोधावरी

मुंबई विश्वविद्यालय मुक्त प्रवेश आंतर्विद्याशाखीय पूर्व-समीक्षित शोध त्रैमासिकी

अप्रैल-जून, 2021 (वर्ष 1, अंक 2)

प्रधान संपादक

प्रोफेसर राजेश खरात
अधिष्ठाता, मानविकी संकाय
मुंबई विश्वविद्यालय, आंबेडकर भवन,
विद्यानगरी परिसर, मुंबई-98
E-mail: rajeshkharat@mu.ac.in
Profile link: https://mu.ac.in/board-of-deans

संपादक

प्रोफेसर हूबनाथ पांडेय
हिंदी विभाग, रानाडे भवन
मुंबई विश्वविद्यालय, विद्यानगरी परिसर,
मुंबई-98
E-mail: hubnath@mu.ac.in
Profile link: https://mu.ac.in/department-of-hindi#1549013984595-98483dec-ad30

उप संपादक

डॉ. भाग्यश्री वर्मा
सहयोगी प्राध्यापक
अंग्रेज़ी विभाग, रानाडे भवन
मुंबई विश्वविद्यालय, विद्यानगरी परिसर,
मुंबई-98
Email:bhagyashree@english.mu.ac.in
Profile link: https://mu.ac.in/department-of-english-3#1571382827900-0caafe92-0778

डॉ. अभय दोशी
सहयोगी प्राध्यापक एवं
अध्यक्ष, गुजराती विभाग, रानाडे भवन
मुंबई विश्वविद्यालय, विद्यानगरी परिसर,
मुंबई-98
E-mail: abhaydoshi@mu.ac.in
Profile link:https://mu.ac.in/wp-content/uploads/2021/09/abhaydoshi.pdf

श्रीमती छाया सयाम
सहायक ग्रंथपाल
जवाहरलाल नेहरू ग्रंथालय
मुंबई विश्वविद्यालय, विद्यानगरी परिसर,
मुंबई-98, E-mail:
chhaya.sayam@library.mu.ac.in
Profile link: https://mu.ac.in/knowledge-resource-centre#1622547186859-13494537-3db5

सह संपादक

डॉ. शीला आहुजा
अध्यक्ष,
हिंदी विभाग
श्रीमती सी.एच.एम.
महाविद्यालय, उल्हासनगर
1skahuja@gmail.com

डॉ. श्यामसुंदर पांडेय
सहयोगी प्राध्यापक, हिंदी विभाग
बिड़ला महाविद्यालय, कल्याण,
महाराष्ट्र
ssdpandey1@gmail.com

डॉ. अनिल ढवळे
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
जोशी बेडेकर महाविद्यालय
ठाणे, महाराष्ट्र
anild883@gmail.com

अनंत द्विवेदी
सहायक प्राध्यापक
साकेत कला, विज्ञान एवं वाणिज्य
महाविद्यालय, कल्याण (पूर्व)
anant.arindam@gmail.com

डॉ. सुनिल चव्हाण
सहयोगी प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
हिंदी विभाग, कला, विज्ञान
एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
लांजा, रत्नागिरी
sunil8012@gmail.com

डॉ. लालासाहेब इंदुराव घोरपडे
सहयोगी प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
हिंदी विभाग,
कणकवली महाविद्यालय,
कणकवली, सिंधुदुर्ग
lighorpade14@gmail.com

संपादकीय सलाहकार

डॉ. रमेश दीक्षित
पूर्व प्रोफेसर अध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र
विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
rameshdixit@gmail.com

डॉ. रतनकुमार पांडेय
पूर्व प्रोफेसर अध्यक्ष, हिंदी विभाग
मुंबई विश्वविद्यालय
prof.ratankumarpandey@rediffmail.com

प्रकाशन सहयोग

पृष्ठ संयोजन एवं टंकण

श्री राजेश कुमार यादव
rajeshy206@gmail.com

श्री शकील अहमद
shakeel.ahmad.g@gmail.com

प्रूफ पठन

डॉ. रीता दास राम
reeta.r.ram@gmail.com

कु. सायली पवार
sayalipawar2891@gmail.com

कु. पुष्पा चौधरी
cpushpa.aries04@gmail.com

कार्यालय : कक्ष, क्र.2, शंकर राव चव्हाण शिक्षक प्रशिक्षण अकादमी, विद्यानगरी परिसर, मुंबई विश्वविद्यालय,मुंबई-400098,
मोबइल नं. 9969016973/8291442759 / E-mail: shodhawari@mu.ac.in/shodhawari@gmail.com

मुद्रण : मुंबई यूनिवर्सिटी प्रेस, फोर्ट, मुंबई

प्रकाशक : अधिष्ठाता, मानविकी संकाय, कार्यालय, मुंबई विश्वविद्यालय, आंबेडकर भवन, विद्यानगरी परिसर, मुंबई

मूल्य : व्यक्तिगत : रु.150 प्रति अंक : रु.500 वार्षिक
संस्थागत : रु.250 प्रति अंक : रु.1000 वार्षिक

अनुक्रम

- *धरोहर*

  कथाकार रवींद्रनाथ /09

  — *श्री मन्मथनाथ गुप्त*

- **टैगोर और गांधी की भारत-चिंता** /23

  — *डॉ. इंद्र नाथ चौधुरी*

- *आलेख*

  पंडिता रमाबाई-मानवता का ओजस्वी स्वर/40

  — *डॉ. शंभू जोशी*

- **भारतीय राष्ट्रीयता** /47

  — *आनंद के. कुमारस्वामी*

- **गुरुदेव टैगोर और भारतीय सिनेमा** /52

  — *श्री हार्दिक वी. भट्ट*

- **साहित्य, सिनेमा और सत्यजित रॉय** /67

  — *श्री नीरज कुमार*

- **इक्कीसवीं सदी की आदिवासी केंद्रित कहानियों पर भूमंडलीकरण का प्रभाव** /82

  — *डॉ. माधुरी जोशी*

- **हिंदी साहित्य में हाशिए पर नारी** /88

  — *श्रीमती ऊषा यादव*

- **भारतीय आर्थिक प्रणाली में गांधीवादी चिंतन** /92

  — *श्री देवेंद्र मौर्य तथा डॉ. मनोज कुमार राय*

- **महात्मा गांधी का शिक्षा दर्शन एवं आधुनिक शिक्षा व्यवस्था** /98

  — *श्री चंद्रमणि राय*

- ***शोधावरी मासिक व्याख्यान*** /103

- *किताबनामा*

  हिंद स्वराज को समझने की कुंजी /105

  — *डॉ. रमाकांत राय*

  हरिचरण दास ग्रंथावली /109

  — *डॉ. ओमप्रकाश शर्मा*

- *रचनाकार* /115

- *परिशिष्ट (संदर्भ साँचा)* /117

शोधावरी त्रैमासिक के प्रवेशांक के पश्चात अप्रैल - जून का अंक थोड़े विलंब से आपके समक्ष प्रस्तुत हो रहा है। इस अंक के केंद्र में भारतीय साहित्य और सिनेमा की दो सर्वश्रेष्ठ विभूतियाँ कवींद्र रवींद्र तथा सत्यजित रॉय हैं हालाँकि उन पर आलेखों/शोध पत्रों की संख्या अत्यल्प है। हिंदी क्षेत्र में गंभीर शोधप्रधान लेखों और शोधपत्रों की स्थित चिंताजनक है। यूँ तो तथाकथित राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय शोधपत्रिकाओं की बाढ़ सी आई हुई है जिसमें अकादमिक लाभ एवं पदोन्नति हेतु प्रतिमाह असंख्य शोधपत्र (?) प्रकाशित हो रहे हैं किंतु हिंदी भाषा और साहित्य में उनका योगदान शून्य भी नहीं है। शोधपत्रों के अनैतिक बाज़ार में ज्ञानानुशासनों की गुणवत्ता की प्रतिदिन निर्घृण हत्या हो रही है और पूरी अकादमिक व्यवस्था मूक दर्शक की तरह इस ज्ञानमेध यज्ञ में शामिल है। ऐसे में ज्ञानानुशासन की गुणवत्ता बरकरार रखते हुए पूरी ईमानदारी और निष्ठा से हिंदी में शोधपत्रिका का नियमित प्रकाशन बेहद मुश्किल है। यही कारण है कि शोधावरी को आरंभिक सात महीनों के भीतर ही मासिक से त्रैमासिक अवतार ग्रहण करना पड़ा।

रवींद्रनाथ ठाकुर की शतकोत्तर हीरक जयंती के अवसर पर श्रद्धांजलि अर्पित करना हमारा नैतिक दायित्व ही नहीं बल्कि आज के संकटग्रस्त समय की अनिवार्य ज़रूरत भी है। जब चारों ओर भय और अनिश्चितता का वातावरण हो, आम आदमी का भविष्य अंधकारमय हो, कहीं से कोई रोशनी की किरण नज़र न आ रही हो ऐसे में मानवता के प्रति घोर आस्थावान कवि की पंक्तियाँ न सिर्फ़ संबल देती हैं बल्कि शक्ति भी प्रदान करती हैं। कविता समाज परिवर्तन करने में कितनी समर्थ है यह बहस का विषय हो सकता है किंतु कविता, मन परिवर्तन का सशक्त माध्यम है, इससे शायद ही किसी को, जिसे कविता का सामर्थ्य पता है, आपत्ति हो। आज भले रवींद्रनाथ के साहित्यिक सांस्कृतिक अवदान की छवि भारतीय जनमानस के स्मृतिपटल पर धुँधली पड़ गई हो किंतु उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त मानवीय गरिमा के स्वर बिल्कुल

भी मंद नहीं पड़े। रवींद्र संगीत उनकी प्रतिभा का दूसरा महत्वपूर्ण आयाम रहा तो साहित्य - समाज - संस्कृति आधारित उनका चिंतन तमाम आंदोलनों और वैचारिक विमर्शों के बावजूद अपनी जड़ें जमाए हुए है। उनका व्यक्तित्व और चिंतन दोनों ही एक साथ राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय था। हमारे देश में शिक्षा को लेकर बुनियादी चिंतन करने और उसे व्यावहारिक स्तर पर मूर्त्त करनेवाली विभूतियों गांधी, अरविंद, रवींद्र में अकेले रवींद्रनाथ का शांतिनिकेतन ही अपनी जड़ों से जुड़ा हैं हालाँकि रवींद्र की शैक्षकि चेतना पर वक्त की धूल भी कम नहीं जमी। उनकी कविता, 'जोदि तोर डाक शुने केऊ ना एसे तबे एकला चलो रे...' नोआखाली के संकटग्रस्त समय में गांधी का संबल बना। आधुनिक भारत के इकलौते विश्व कवि ने अपने समय में साहित्य और समाज को न सिर्फ़ प्रभावित किया बल्कि उसे दिशा भी प्रदान की। राष्ट्रवाद संबंधी उनका चिंतन मौजूदा समय में अत्यंत महत्वपूर्ण है।

2 मई 1921 में कलकत्ता में जन्मे एक बालक की माँ ने उसे 19 वर्ष की युवावस्था में उस बालक को शांतिनिकेतन भेजा। बालक वहाँ जाना नहीं चाहता था पर घर भर के दबाव की वजह से वह शांतिनिकेतन गया। तब रवींद्रनाथ जीवित थे। वह उनसे मिला। वहाँ प्रख्यात चित्रकार नंदलाल बसु और बिनोदबिहारी मुखर्जी से उसने प्राच्य कला का पाठ सीखा और आगे चलकर वह भारत का महान फ़िल्मकार बना और उसने सहर्ष स्वीकार किया कि शांतिनिकेतन के दो वर्षों ने उसकी चिंतन दिशा बदल दी। यह वर्ष उस महान फ़िल्मकार सत्यजित रॉय का जन्मशताब्दी वर्ष है। भारतीय सिनेमा को विश्व पटल पर ससम्मान स्थापित करनेवाले गिनेचुने फ़िल्मकारों में सत्यजित रॉय सर्वोपरि हैं। अपनी पहली ही फ़िल्म 'पाथेर पांचाली' से विश्व सिनेमा में उन्होंने महत्वपूर्ण दस्तक दी और उसके बाद निरंतर उनकी फ़िल्म कला परवान चढ़ती रही। ऑस्कर, दादासाहब फालके पुरस्कार तथा भारत रत्न ही नहीं फ़्रांस राज्य के सर्वोच्च नागरिक सम्मान से सम्मानित श्री रॉय बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। जहाँ एक ओर हिंदी सिनेमा की दुनिया में साहित्याधारित फ़िल्में निरंतर असफल होती रहीं और साहित्यिक मूल्यों से समझौते करती रहीं वहीं सत्यजित रॉय ने सिनेमा में साहित्य का अभिनव संसार रचा। उनकी पहली ही फ़िल्म बांग्ला के ख्यातिलब्ध कथाकार बिभूतिभूषण बंद्योपाध्याय के उपन्यास पर आधारित थी। आगे चलकर शंकर, परशुराम, इब्सन, समरेश बसु, प्रेमचंद और रवींद्रनाथ की रचनाओं पर बेहतरीन फ़िल्मों का निर्माण किया।

आगे आनेवाले शोधावरी के अंकों में सत्यजित रॉय की फ़िल्म कला और उनके अवदान का मूल्यांकन हम वर्ष भर करते रहेंगे। इस विषय पर सुधी पाठकों, फ़िल्म समीक्षकों के उल्लेखनीय विचारों को शोधालेख अथवा शोधपत्रों के रूप में प्रकाशित किया जाएगा।

शोधावरी संपादन मंडल के विद्वान सदस्यों तथा विश्वविद्यालय के आदरणीय कुलपति एवं माननीय उप कुलपति के अविरल स्नेह और सहयोग के बल पर यह शोध त्रैमासिकी शीघ्र ही पुस्तकाकार प्रकाशित रूप में आप तक पहुँचेगी। भविष्य के प्रति अपनी आस्था और विश्वास बनाए रखें और अपने भीतर की सहृदयता बचाएँ रखें और स्वस्थ रहें, इन्हीं मंगलकामनाओं सहित।

संपादन मंडल

कथाकार रवींद्रनाथ

● श्री मन्मथनाथ गुप्त

रवींद्रनाथ कवि रूप में श्रेष्ठतर थे या कथाकार के रूप में, इस प्रश्न का हाँ या ना में उत्तर देने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं मालूम होती। इतना ही कहना यथेष्ट है कि व्याकरण और भाषा-तत्व से लेकर जिस विषय पर भी उन्होंने लिखा, उसमें वे सर्वोपरि हो गए।

उनकी गद्य-रचना पहले-पहल 'ज्ञानांकुर ओ प्रतिबिंब' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। उस समय उनकी उम्र पंद्रह वर्ष की थी। इस निबंध में वे समालोचक के रूप में सामने आए। उन्होंने ताज़े प्रकाशित तीन काव्यों की आलोचना की थी। इसके बाद 66 वर्ष तक वे बराबर अविरल गति से लिखते रहे। बांग्ला भाषा को उन्होंने क्या दान दिया, इसका अनुमान इस उद्धरण से हो सकता है- ''रवींद्रनाथ ने बांग्ला भाषा की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य इतनी अधिक बढ़ा दी कि यह कहा जा सकता है कि किसी एक लेखक ने अकेले किसी भाषा की अभिव्यक्ति, सामर्थ्य इतनी नहीं बढ़ाई। रवींद्र-गद्य-रीति का यह मौलिक गुण है कि वे केवल बुद्धि को उबुद्ध करके निवृत्त नहीं होते, बल्कि मन के गहन अंत:पुर में प्रविष्ट होकर चित्त की गंभीरतम अनुभूति को जाग्रत कर देते हैं। इसी कारण रवींद्रनाथ की गद्य शैली में वाक्यालंकार के बीच में उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, श्लेष और विरोधाभास का प्रयोग सबसे अधिक है। इनमें भी उत्प्रेक्षा की ही प्रधानता है। रवींद्रनाथ के गद्य में आदि से अंत तक उत्प्रेक्षाप्रधान उक्तियों का बोलबाला है।''

रवींद्रनाथ की गद्य रचनाओं को तीन युगों में बाँटा गया है-(1) ज्ञानांकुर भारती युग याने पंद्रह साल से बाईस साल की उम्र तक, (2) हितवादी-साधना-भारती-बंगदर्शन-प्रवासी युग याने बाईस साल से इक्यावन की उम्र तक, (3) सबुज पत्र युग याने इसके बाद का युग। उनकी गद्य-शैली बराबर विकसित होती रही। पहला युग तो साधना का युग था, दूसरा युग अष्टसिद्धियों और नवनिधियों का युग कहा जा सकता है और तीसरे युग में उन्होंने युग

की ढाल को देखते हुए एकदम से बोलचाल की भाषा अपना ली। उनकी प्रथम गद्य-रचना में ही उनके अध्ययन की विशालता, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय इतिहास की जानकारी, साथ ही काव्य और संगीत के संबंध में गहरा ज्ञान सूचित होता है।

उस लेख से कुछ वाक्य लीजिए-

''इसी गीतिकाव्य से फ्रांसीसी राज्य-क्रांति को प्रोत्साहन मिला, गीति-काव्य के ही कारण चैतन्य के धर्म ने बंगाल में जड़ पकड़ ली और इसी गीति-काव्य के कारण बंगालियों के निर्जीव हृदय में जीवन का कुछ-कुछ संचार हो रहा है।''

''शेक्सपियर दूसरों के हृदय का चित्रण करके दृश्य-काव्य में असाधारण हो गए हैं, पर अपने हृदय के चित्रण में असमर्थ होने के कारण वे गीति-काव्य में बहुत बड़े नहीं हो सके। इसी प्रकार कविवर बायरन अपने हृदय के चित्रण में असाधारण हैं, पर दूसरों के हृदय के चित्रण में अक्षम हैं। गीति-काव्य अकृत्रिम है, क्योंकि वह हमारे अपने हृदय-कानन का पुष्प है और महाकाव्य शिल्प है, क्योंकि वह दूसरे के हृदय का अनुकरण मात्र है। इसी कारण हम लोग वाल्मीकि, व्यास, होमर, वर्जिल आदि प्राचीन कवियों की तरह महाकाव्य नहीं लिख सकेंगे, क्योंकि प्राचीनकाल में लोग सभ्यता के आच्छादन में हृदय को गुप्त रखना नहीं जानते थे, इस कारण कवियों के लिए यह संभव था कि दूसरे के हृदयों को प्रत्यक्ष कर उन अनावृत हृदयों को सहज में ही चित्रित कर सकें।''

यह रचना पंद्रह वर्ष के बालक रवींद्र की है। इसके बाद कुछ दिनों में 'भारती' पत्रिका प्रकाशित हुई, और उसमें वे माइकेल के 'मेघनाद-वध' के आलोचक के रूप में सामने आए। 'भारती' की तृतीय संख्या से रवींद्रनाथ का 'करुणा' नाम से एक उपन्यास चलने लगा। इसके बाद 'भारती' के तीसरे साल में धारावाहिक रूप से यूरोप प्रवासी के पत्र प्रकाशित हुए, जो 1881 में पुस्तकाकार निकले।

अब हम कालानुक्रम से रवींद्र-रचना का परिचय देने की बजाय पहले उनके उपन्यासों का फिर उनके नाटकों का संक्षिप्त परिचय देंगे। कहानियों पर भी प्रकाश डालेंगे । इस प्रकार जो कुछ कहा जायगा, उसमें हम कालानुक्रम का ख्याल रखेंगे। 'बहु ठाकुरानीर हाट' और 'राजर्षि' नामक उपन्यास उनके बीस से चौबीस वर्ष के बीच की रचनाएँ हैं। अभी बंकिमचंद्र बांग्ला साहित्य के गगन में बहुत ज़ोर से चमक रहे थे, ये दोनों उपन्यास उन्हीं की छत्रछाया में लिखे गए। जिस समय उन्होंने ये उपन्यास लिखे, उस समय बहिर्जगत के साथ उनका परिचय बहुत कम था, क्योंकि उनका लालन-पालन ही इस प्रकार से हुआ था कि वे सबसे दूर अलग-थलग पले। अपनी जीवन-स्मृति में उन्होंने इस बात पर लिखा है, ''न तो तब विद्या थी, और न जीवन की अभिज्ञता थी, इसलिए गद्य-पद्य जो कुछ भी लिखा, उसमें असली वस्तु से भावुकता कहीं अधिक थी।'' इसी कारण इन दोनों उपन्यासों के कथानक उलझनों से वर्जित, सरल, अजटिल हैं। कही पर अंतर्द्वंद्व का झगड़ा नहीं है। ये दोनों पुस्तकें ऐतिहासिक उपन्यास के आदर्श पर रचित हैं। श्री निहाररंजन राय कहते हैं-"दोनों उपन्यासों में विचित्रता और कोलाहल है ज़रूर, पर रंगभूमि की छाया की तरह अस्पष्ट है। इनमें इतिहास का अर्थहीन आश्रय लिया गया है, उपन्यास

की घटनाओं और चरित्रों में इतिहास के जीवन और उद्दीपन के संचारित होने का कहीं कोई प्रमाण नहीं है।''

इन दो उपन्यासों में फिर भी बाद के कवींद्र रवींद्र की विशेषता आ जाती है। कोलाहल की पृष्ठभूमि में शांति और आनंद के अस्तित्व से उपन्यासकार परिचित है और वे उसकी टोह में रहते हैं। एक बात और यद्यपि उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास लिखा, फिर भी इसमें कई पात्र ऐसे आते हैं, जो उनके इर्द-गिर्द मौजूद थे और उन्होंने उन्हें इतिहास की पोशाक पहनाकर पाठकों के सामने प्रस्तुत भर कर दिया।

इसके बाद उन्होंने 'चोखेर बालि' (आँख की किरकिरी) और 'नौका डूबी' उपन्यास लिखे। 'आँख की किरकिरी' के संबंध में यहाँ तक कहा गया है कि ''यदि किसी साहित्य में एक उपन्यास ने उपन्यास के प्रचलित धर्म और प्रकृति को बदलकर एकदम नए युग की सूचना करके नई बुनियाद डाली हो तो वह यही पुस्तक है।''

स्मरण रहे कि पंद्रह साल बाद यह उपन्यास लिखा गया था। डॉ. निहार राय के अनुसार यह समाज-जीवन पर आश्रित पहला मनोविश्लेषणमूलक समस्यानिष्ठ उपन्यास था। ''इसके पहले बांग्ला साहित्य के उपन्यास प्रधानत: घटना-निर्भर थे। घटना का सुंदर यथातथ्य समावेश ही उपन्यास की विशेषता थी। कवींद्र के पहले दो उपन्यास इसी आदर्श के अनुसार थे, पर 'आँख की किरकिरी' बिल्कुल इसके विपरीत थी। इसका कथा-भाग बहुत संक्षिप्त है, पर इसके चार चरित्रों के मनोविश्लेषण की धारा बहुत दीर्घ है। घटना का क्रम केवल मानसिक विकास का सहायक मात्र है। सारी कहानी एक साँस में कह डाली जा सकती है, पर वह तो आख्यान मात्र है। उसमें वास्तविक अनुभूति नहीं है। वास्तविक अनुभूति का संचार तो तब होता है, जब हम विनोदिनी और आशा, महेंद्र और बिहारी के चित्त की गहराइयों में पैठकर उनकी चिंताओं तथा भावों की भीतरी क्रिया प्राप्त करते हैं। तभी हमें उनके प्रकाश्य कार्यों का वास्तविक अर्थ मालूम होता है। इस प्रकार का विश्लेषण, मनुष्य के विचित्र कर्म और विचार के कार्य-कारण संबंध को प्रकाश में लाने का इस प्रकार का प्रयास तथा वस्तु के अंतर्निहित धर्म के संबंध में जिज्ञासा पहले-पहल 'आँख की किरकिरी' उपन्यास से ही प्रवर्तित हुई।''

'नौका डूबी' उक्त उपन्यास के दो साल बाद प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास रोमांटिक ढंग का है। कई लोगों ने इसी कारण इसे पहले की रचना समझने की भूल की है। कहा गया है कि 'नौका डूबी' 'बंग दर्शन' मासिक पत्र की माँग को पूरा करने के लिए लिखा गया था। इसमें आकस्मिक घटनाओं की प्रधानता है। 'रमेश और कमला का जटिल संबंध एक आकस्मिक विपर्यय पर निर्भर है। कमला और नलिनाक्ष का पुनर्मिलन भी इसी प्रकार से पूर्णत: दैवी घटनाओं पर निर्भर है। जिस भूल के कारण रमेश और कमला का जटिल संबंध दिन पर दिन जटिलतर होता जा रहा था, वह इतना दीर्घ विलंबित है कि वह ज़रा अस्वाभाविक ही प्रतीत होता है। इस भूल को तोड़ना और सारी जटिलताओं का अंत करना कुछ ऐसा कठिन और असंभव नहीं था। इसके अतिरिक्त हेम नलिनी के साथ विवाह

के पहले रमेश ने कमला के रहस्य के उद्‌घाटन में किसी प्रकार की इच्छा या चेष्टा नहीं दिखाई, इसका कोई युक्तिसंगत कारण ढूँढ़ने पर नहीं मिलता। इतनी बाधाओं को पार करने के बाद ही उपन्यास के सूक्ष्म विश्लेषण और वस्तुनिष्ठा की बात प्रकट होती है।''

इन उपन्यासों के बाद रवींद्रनाथ ने 'गोरा' उपन्यास की रचना की। उस समय के अंग्रेज़ी शिक्षित समाज में जिस प्रकार के विचारों की उथल-पुथल और आलोड़न-विलोड़न चल रहा था, उसका सम्यक प्रतिफलन इस उपन्यास में मिलता है। अवश्य इसमें रोटी-दाल और शोषक-शोषित की समस्याओं का कहीं पता नहीं है, पर सुंदर विचारों और आदर्शों के संघात का बहुत चित्र इसमें उपस्थित किया गया है। केवल यही नहीं, इसमें प्रगतिशील विस्तृततर विचारों की ही अंत तक विजय कराई गई है। गोरा एक ऐसा युवक है, जिसके माता-पिता यूरोपीय थे। 1857 के विद्रोह के समय यह अनाथ शिशु एक बांग्ला 'सज्जन' के हाथ लगा और उन्होंने उसे एक सनातन हिंदू बच्चे की तरह पाला। यह लड़का बहुत ही मेधावी निकला और कट्टर सनातनधर्मी बना, यहाँ तक कि वह कट्टरता की धुन में बहुत-कुछ अजीब बातें करता है। उसके पालक पिता इन बातों को देखते हैं और स्वयं कट्टर होते हुए भी यह नहीं चाहते कि वह कट्टर रहे। अंत तक सारी बातें खुलती है और उपन्यास का अंत बिल्कुल दूसरे ही ढंग से होता है।

कई लोगों ने यह कहा है कि 'गोरा' में रवींद्रनाथ ने ब्राह्म धर्म की विजय दिखलाई है, पर यह बात सही नहीं है। लेखक ने कट्टर ब्राह्म समाजी और सनातनधर्मी का चित्र खींचा है। इनमें कट्टर ब्राह्म समाजी का चित्र ही अधिक हास्योत्पादक है। इसी प्रकार और भी अन्य बातें इस दोषारोपरण के विरुद्ध कही जा सकती हैं। प्रगतिशील विचारों की जो विजय इस उपन्यास में दिखाई गई है, वह एक तरह से युक्तिवाद और बुद्धिवाद के सामने पुराने समाज का ढह जाना ही है। उसमें एक कट्टरता को दूसरी कट्टरता से बढ़कर दिखाने का प्रयास कहीं पर नहीं है। श्री राय तो 'गोरा' की यहाँ तक प्रशंसा करते हैं कि जिस सुबृहत भाव-कल्पना के बीच 'गोरा' की दृष्टि है, उसका प्रसार बांग्ला उपन्यास में आज तक देखने में नहीं आया। बांग्ला मध्यवित्त समाज की संकीर्ण और अल्पचेतन जीवनधारा को अवलंबन बनाकर 'गोरा' ने बांग्ला साहित्य में जिस प्रवाह का संचार किया था, उसमें नया गतिवेग अब भी दीख नहीं पड़ा। 'गोरा' ने बांग्ला उपन्यास में जीवन का जो समग्र रूप पेश किया था, उस समग्रता की दृष्टि के आगे चलकर बांग्ला उपन्यास में दूसरी बार दर्शन नहीं हुए।

श्री राय के इन मंतव्यों से सहमत होना संभव नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि गोरा का उपजीव्य एक ऐसा विषय था, जो शताब्दियों में सामने आता है। वह है, हमारे सैकड़ों वर्ष पुराने समाज-शरीर का सामना पाश्चात्य' से आए हुए नए विचारों से होना। यह एक बहुत बड़ा विषय था और इसमें संदेह नहीं कि बंगाल की ज़मीन पर विचारों के संघर्ष को दिखाते हुए भी रवींद्रनाथ ने उस महान विषय के साथ पूरा न्याय किया। पर हमारे सामने और भी बहुत-से विषय ऐसे हैं, जो इसी की तरह महत्वपूर्ण

हैं। उदाहरण स्वरूप पाश्चात्य विचारों के बुद्धिवाद ही नहीं, उनके विज्ञान और विज्ञान से प्राप्त सुख-सुविधाओं इत्यादि को अपनाते हुए भी उनके साम्राज्यवाद तथा शोषण-नीति का विरोध और उनसे छुटकारा प्राप्त करना, हमारे यहाँ की मेहनतकश जनता को उनके शोषकों से मुक्त करना, इत्यादि। बाद के उपन्यासकारों ने इन विषयों को लेकर लिखा। हम उसके ब्यौरे में नहीं जाएँगे कि तुलनात्मक रूप से वह कैसे रहे, पर मैंने यह बताया है कि एक श्रेष्ठ कृति की प्रशंसा करने का अर्थ यह हर्गिज़ नहीं है कि हम यह कह दें कि उसके बाद कोई उस रचना का अतिक्रम नहीं करेगा।

यहाँ एक बात और बता दें कि 'गोरा' जितना अच्छा उपन्यास है, उस दृष्टि से उसका उतना प्रचार नहीं है। इसका कारण यह है कि उसमें जो समस्याएँ उठाई गई हैं तथा विचारों का जो संघर्ष चित्रित है, वह आज दिलचस्प नहीं हो सकता, क्योंकि उन विषयों को छेड़ते ही पहले के युग में जिस वाद-विवाद के वातावरण की सृष्टि होती थी, वह अब नहीं होती । उन विषयों पर वह जोशखरोश नहीं आ सकता और इसी कारण ऐतिहासिक रूप से भले ही यह दिलचस्प हो, स्वयं वे विचार अब बहुत-कुछ पालतू बन चुके हैं। पर मैं शायद 'गोरा' के अंदर चलनेवाले विचार-संघर्षों पर अधिक ज़ोर दे रहा हूँ। कलाकृति के नाते उसमें जो चरित्र-चित्रण है, सुंदर वाक्य और विचार हैं, सूक्ष्म अतिसूक्ष्म मनोविश्लेषण है, व्यक्ति का विकास और परिवर्तन है, वह तो कहीं नहीं जा सकता। विचार की सामयिकतावाली धार भले ही कुछ भोथरी हो गई हो, पर कला की धार तो उसी प्रकार तेज बनी हुई है। इसके अलावा 'गोरा' हमारे इतिहास का एक अध्याय है, पर साथ ही वह भारतीय उपन्यास साहित्य में एक युगांतर उपस्थित करने वाली कलाकृति है।

'गोरा' के पाँच वर्ष बाद 'चतुरंग' और छह वर्ष बाद 'घरे बाइरे' याने 'घर और बाहर' की रचना हुई। अध्यापक राय का कहना है कि 'गोरा' के पहले जो उपन्यास रचे गए थे, उनमें तथ्य और घटना-विन्यास का क्रम इस तरह से सजाया गया है और उपन्यास के चरित्र-विकास के स्तर इस तरह से ग्रथित हुए हैं कि पाठक के मन में विभिन्न विच्छिन्न घटनाएँ और चरित्र समग्र रूप से सामने आते हैं, आंशिक या खंडित वर्णन के ज़रिए जीवन का समग्र रूप प्रतिफलित होता है। श्री राय कहते हैं-''उपन्यास का बृहत्तर ऐक्य जीवन के खंड-खंड अंशों को एकत्र गूँथकर एक परिपूर्ण रूप प्रदान करता है। 'आँख की किरकिरी' या 'गोरा' या बंकिम के जिस किसी सार्थक उपन्यास से इस बात का दृष्टांत अत्यंत आसानी से दिया जा सकता है। उपन्यास की इस समग्रता का धर्म, बृहत्तर ऐक्य का धर्म 'गोरा' के बाद उपन्यासों में अनुपस्थित है। दूसरी बात यह है कि 'गोरा' और 'गोरा' के बाद बांग्ला उपन्यासों में चरित्र का विकास, विस्तृत घटना और मनोविश्लेषण के ज़रिए चेतना और बुद्धि के सामने पेश होता है। इस पर्व के उपन्यासों में ये दोनों बातें अत्यंत संक्षिप्त हैं, तथ्य का सन्निवेश विरल है और जो कुछ भी है, वह असंपूर्ण है।''

दूसरे शब्दों में उनका कहना यह है कि यह उपन्यास बुद्धि-प्रधान है और उसका रस और रहस्य मुख्यत: बुद्धिगम्य है। भाषा में भी संक्षिप्तता की

ओर यानी थोड़े में बहुत कहने की प्रवृत्ति है। यह विकास का एक स्तर था।

'चतुरंग' के चार अंश अलग-अलग कहानियों के रूप में प्रकाशित हुए, पर दूसरी कहानी प्रकाशित होते ही यह समझ में आ गया कि कहानियाँ बिल्कुल अलग नहीं हैं। डॉ. श्री कुमार के अनुसार यह कोई उच्चकोटि का उपन्यास नहीं है, पर कुछ लोगों के अनुसार यह उनकी श्रेष्ठ रचना है । इसमें संदेह नहीं कि 'चतुरंग' बहुत मामूली पाठकों के समय काटने के लिए नहीं लिखा गया है। अंत में सब कुछ कह लेने के बाद श्री निहार रंजन भी इस राय पर पहुँचते हैं कि 'चतुरंग' कोई महान उपन्यास नहीं है। ''इसमें वस्तु-भूमि की गहराई है, पर फैलाव नहीं है। मानव-संसार की विचित्र बहुमुखी तरंग लीला के साथ इसका योग नहीं है। इसका जीवन-दर्शन खंडित है, पर जीवन की समग्रता का इस उपन्यास में स्पर्श नहीं है। पर 'चतुरंग' सुंदर और सार्थक साहित्य-दृष्टि है। इसकी बुद्धि की दीप्ति, रहस्यमय संकेत, सूत्र रूप में थोड़े वर्णन, ज्ञानगर्भ इंगितपूर्ण विवृति, सूक्ष्म मनोविश्लेषण की धारा और सबसे बढ़कर इसकी कवि-कल्पना के ऐश्वर्य ने इसे जो विशिष्ट और अभिनव साहित्यिक मूल्य प्रदान किया है, इसकी कुछ तुलना 'शेषेर कविता' के अतिरिक्त बांग्ला साहित्य में और कहीं नहीं प्राप्त है।'' 'घर और बाहर' उपन्यास पहले धारावाहिक रूप से 'सबुज' पत्र में प्रकाशित हुआ। जब यह उपन्यास अभी निकल ही रहा था, तभी इस पर बहुत झगड़ा खड़ा हो गया। इस उपन्यास में स्वदेशी आंदोलन को केंद्र बनाकर कथानक प्रस्तुत किया गया है, पर इसके नायक संदीप को स्वदेशी आंदोलन का प्रतिनिधि मानना ग़लत होगा। उसे ऐसा माना गया है, तभी सारे झगड़े खड़े हुए हैं। प्रत्येक आंदोलन में भले-बुरे सब तरह के लोग होते हैं और संदीप इस आंदोलन के एक अंश का प्रतिनिधित्व करता है। वह बोलने में बड़ा तेज़ है, पर स्वार्थी है। आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं रवींद्रनाथ स्वदेशी आंदोलन के अन्यतम नेता थे, उनके व्याख्यानों और कविताओं से स्वदेशी आंदोलन तथा उसके बाद के क्रांतिकारी आंदोलन को बड़ा बल मिला, पर उन्होंने उसके कृष्णपक्ष को ही अपनी कला के लिए क्यों चुना ? इतना कह लेने के बाद भी यह मानना पड़ता है कि यह एक बहुत ही शक्तिशाली उपन्यास है।

'घर और बाहर' की रचना के लगभग बारह वर्ष बाद कवींद्र ने 'तीन पुरुष' नाम से एक उपन्यास लिखना शुरू किया, पर बाद को इसका नाम 'योगायोग' रख दिया। इसके बाद रवींद्रनाथ ने 'शेषेर कविता' नामक उपन्यास लिखा। पहले ही बताया जा चुका है कि यह उपन्यास काव्य धर्मी है। यह एक आश्चर्य की बात है कि 'गोरा' और 'घर और बाहर' में रवींद्रनाथ ने उस युग को अपने सामने रखकर चरित्र चुना था, पर इन उपन्यासों में किसी विशेष युग को या किसी विशेष टाइप को चित्रित करने की सीमाएँ नहीं हैं। 'शेषेर कविता' मनोविज्ञान-प्रधान है, यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी, पर साथ ही इसकी प्रत्येक पंक्ति में काव्यमय वर्णन की प्रधानता है। रवींद्रनाथ ने और भी कई उपन्यास लिखे, पर उनकी पृथक आलोचना की गुंजाइश यहाँ पर नहीं है।

नाटक के क्षेत्र में रवींद्रनाथ ने पहले एक

गीतिनाट्य लिखा, जिसका नाम 'वाल्मीकि प्रतिभा' है। रवींद्रनाथ बाद को बराबर जब भी इसके संबंध में उल्लेख करते थे, वे कुछ सकुचाते थे, पर यह रचना उतनी निम्नकोटि की नहीं है, जितनी वह समझते थे। इन दिनों कविवर की उम्र 18-20 के लगभग थी और संगीत की चर्चा बड़े ज़ोरों के साथ चल रही थी। उसी काल में 'काल मृगया', 'प्रकृतिर प्रतिशोध' तथा 'मायार खेला' की रचनाएँ हुईं। इनमें से 'प्रकृतिर प्रतिशोध' में कविवर संगीत से हटकर नाटक की ओर बढ़ते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। 'वाल्मीकि प्रतिभा' और 'काल मृगया' में कविवर ने पौराणिक कथा को ही आधार रखा था, पर 'प्रकृतिर प्रतिशोध' की कहानी स्वरचित है। कहानी इस प्रकार है कि एक संन्यासी ने समस्त इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए एक निर्जन गुफा में रहना शुरू किया। बाद को इस संन्यासी ने एक असहाय बालिका के प्रति दयार्द्र होकर उसे अपने आश्रम में आश्रय देना चाहा। संन्यासी अपनी कन्या के रूप में उसे वैराग्य का उपदेश देते हैं, पर वह यह सब कुछ नहीं समझती और संसार में लौटना चाहती है। इस प्रकार दो आदर्शों का संग्राम होता है। अंत में संन्यासी को एक दिन कहना पड़ा कि 'आज से मैं संन्यासी नहीं हूँ,' इत्यादि-इत्यादि। यह कविवर का पहला महत्वपूर्ण नाटक है। 'मायार खेला' नामक नाटक में कोई खास विषय नहीं लिया गया। बस कई एक तरुण गाना गाते जाते हैं और उसी के अंदर से उनका परिचय सामने आता जाता है। इस युग के बाद उन्होंने एक के बाद एक 'राजा ओ रानी', 'विसर्जन' और 'मालिनी' लिखे । प्रथम नाटक एक ऐतिहासिक घटना को छूकर चलता है। यों कहा जाय कि यह ऐतिहासिक घटना भी मनगढ़ंत है तो वह सत्य के अधिक निकट होगा।

नाटकीय दृष्टि से 'विसर्जन' में अपेक्षाकृत नाटकीय द्वंद्व अधिक है। बाद को जो 'मालिनी' नाटक लिखा गया, उसमें और इसमें बड़ी समता है। दोनों नाटकों में रूढ़िवाद के विरुद्ध कथानक प्रस्तुत किया गया है। एक तरफ तो सनातन रूढ़िवादी धर्म है और दूसरी तरफ मानव-धर्म का प्रतीक एक विशाल व्यापक धर्म या सिद्धांत है। 'विसर्जन' का रघुपति और 'मालिनी' का क्षेमंकर और 'विसर्जन' का जयसिंह और 'मालिनी' का सुप्रिय करीब-करीब एक ही हैं। श्री राय के अनुसार इनकी भावना और गति, भाषा और प्रकाश के बीच में पृथकता बहुत कम है । 'मालिनी' के कथानक में एक राजकन्या का द्वंद्व दिखलाया गया है, जिसने बौद्ध अर्हत काश्यप से संसार-त्याग का पाठ प्राप्त किया है और वह उसी मार्ग में चलना चाहती है, पर सनातन धर्म के अनुयायी इसका विरोध करते हैं। इसी पर समस्या खड़ी हो जाती है। सनातन धर्म के नेता क्षेमंकर हैं। इसमें और भी जटिलता इस प्रकार उत्पन्न हो जाती है कि क्षेमंकर का मित्र सुप्रिय यद्यपि अपने मित्र के साथ है, फिर भी वह यह नहीं चाहता कि राजकन्या को 'निर्वासन' का दंड दिया जाय। इस पर सुप्रिय और क्षेमंकर में वाद-विवाद होता है और अंततोगत्वा सुप्रिय यह कहता है- ''तुम्हारा स्वर्गधाम झूठा है और तुम्हारे देवता भी झूठे हैं। इस संसार में व्यर्थ ही इतने दिन मैंने भ्रमण किया, कभी किसी शास्त्र से तृप्ति नहीं प्राप्त हुई, आज मैंने अपना धर्म पा लिया, जो हृदय के बहुत

ही निकट है।''

रानी बराबर राजकन्या को समझाती है, पर राजा समझते हुए भी कुछ तरह देते जाते हैं। उधर क्षेमंकर बाहर से सेना मँगाकर इस राज्य में सनातन धर्म को पुन: प्रतिष्ठित करने का षड्यंत्र करता है। सुप्रिय इस बात को खोल देता है। क्षेमंकर पकड़ा जाता है और उसे प्राणदंड देना निश्चित होता है, मालिनी ने उसके लिए क्षमा-याचना की। इस प्रकार से नाटक में कई रोमांचकारी घटनाएँ आती हैं। इसके साथ ही आदर्शों के संघर्ष और कवितामय वर्णन के कारण यह नाटक बहुत ही सुंदर ढंग से विवर्तित होता है। अवश्य यह एक कवि की कल्पना है, पर इस कल्पना में बड़ी उदात्तता है। यह नाटक बार-बार अभिनीत भी हुआ है। इसके बाद रवींद्रनाथ ने 'गांधारीर आवेदन', 'सती', 'नरकवास', 'लक्ष्मीर परीक्षा' और 'कर्ण-कुंती-संवाद' लिखे। इन नाटकों में भी मानव-धर्म की महिमा बार-बार गाई जाती है। 'लक्ष्मीर परीक्षा' नामक नाटक में हास्य का स्रोत भी फलगू की तरह भीतर-भीतर चलता जाता है। ये नाटक मुख्यत: पढ़ने के लिए ही लिखे गए थे। इस प्रकार के नाटकों के प्रवर्तक भी रवींद्रनाथ ही थे। यह मानना पड़ेगा कि इन नाटकों में कविता के साथ-साथ नाटकीयता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। 'गांधारीर आवेदन' नामक नाटक में गांधारी के प्रति धृतराष्ट्र के चरित्र में एक तरफ मानव-धर्म के प्रति आकर्षण तथा दूसरी तरफ पुत्र-स्नेह का द्वंद्व चलता है। गांधारी में यह द्वंद्व प्रत्यक्ष रूप से ऐसी प्रवृत्ति अपना चुका है कि स्नेह में तो वह पुत्रों के साथ है, पर उसका मन धर्म के साथ है। क्या यह हृदय और मस्तिष्क का द्वंद्व है या यह हृदय के एक अंश के साथ हृदय के दूसरे अंश का द्वंद्व है? बात यह है कि यदि मस्तिष्क और हृदय का द्वंद्व होता, तो उसमें वह गहराई नहीं आ पाती, जो इसमें दिखाई पड़ रही है। गांधारी में इस द्वंद्व का अंत इस रूप में होता है कि वह पुत्रों को चाहते हुए भी आशीर्वाद पांडवों को ही देती है, पर धृतराष्ट्र में यह द्वंद्व अंत तक सुलझता नहीं है।

'सती' नाटक में भी इसी प्रकार धर्म और पितृ-स्नेह का द्वंद्व दिखलाया गया है। 'कर्ण-कुंती संवाद' में द्वंद्व तो स्वाभाविक ही है, क्योंकि कुंती का चरित्र ही ऐसा है। कर्ण वीर धर्म का प्रतीक है। कुंती जो उससे जाकर मिलती है, उसमें पांडवों की विजय-कामना थी, पर साथ ही इस स्वार्थ में भी त्याग का बहुत गहरा पुट था, क्योंकि कर्ण उसका पुत्र है और शायद सबसे अधिक वीर पुत्र। फिर द्वंद्व क्यों न होता? 'नरकवास' की कहानी भी पौराणिक है। इन नाटक-नाटिकाओं के बाद रवींद्रनाथ ने 'व्यंग्य कौतुक, हास्य कौतुक', 'गोड़ाय-गलद', 'शेष रक्षा', 'वैकुंठेर खाता', 'चिरकुमार सभा', 'तासेर देश' नाटक लिखे। प्रथम पुस्तक में दो छोटी-छोटी नाटिकाएँ हैं। उन्होंने भूमिका में लिखा कि समस्या नाट्य के ढंग पर ये नाटिकाएँ लिखी गईं। इन दो नाटिकाओं में शिक्षित समाज पर व्यंग्य किया गया था। 'हास्य कौतुक' की नाटिकाओं में भी विषय यही है। स्मरण रहे कि अब तक जिन नाटक तथा नाटिकाओं का उल्लेख किया गया है, वे सब पद्य में रचित थे। रवींद्रनाथ का पहला गद्य नाटक 'गोड़ाय गलद' याने जड़ में ही ग़लत था, सन (1892) में प्रकाशित हुआ। यह प्रहसन के रूप

में था, पर इसमें पाँच अंक थे। इसे कॉमेडी की श्रेणी में रक्खा गया है। पात्रों की बातचीत बहुत पैनी, हास्य से मधुर और उज्ज्वल है, पर अभिनय की दृष्टि से यह उतना अच्छा नहीं था। बातचीत कुछ कम रहती तो अच्छा रहता। कविवर का ध्यान इस ओर गया होगा, इसलिए 37 साल बाद इसका एक संशोधित रूप 'शेष रक्षा' नाम से प्रकाशित हुआ। 'शेष रक्षा' अभिनय की दृष्टि से बहुत ही सुंदर, संयत रचना हो गई। हास्य रस भी पहले से सुसंस्कृत हो गया और बातचीत भी संक्षिप्त हुई।

'बैकुंठेर खाता' (1897) भी एक प्रहसन था। पर यह केवल प्रहसन नहीं था, क्योंकि इसमें हास्य रस के अलावा करुण रस भी है। बैकुंठ को हास्य का पात्र बनाया गया है, साथ ही उसके प्रति बड़ी तगड़ी सहानुभूति भी है।

'चिरकुमार सभा' पहले-पहल उपन्यास के रूप में प्रकाशित हुआ था, पर सन 1926 में कविवर ने उपन्यास को बदलकर एक नाटक की रचना की और उसका नाम 'चिरकुमार सभा' रक्खा गया। स्मरण रहे कि 'चिरकुमार सभा' उपन्यास उस समय लिखा गया था, जिस समय स्वामी विवेकानंद का बंगाल में बड़ा ज़ोर था और चिरकुमार संन्यासियों की धूम मची हुई थी। रवींद्रनाथ को यह आदर्श नहीं रुचा, इसलिए उन्होंने इस पुस्तक की रचना की। पहले से ही रवींद्रनाथ इस आदर्श के विरोधी थे, यह 'प्रकृतिर प्रतिशोध' नामक प्रथम युग के एक नाटक में ही स्पष्ट हो चुका था। 'चिरकुमार सभा' के युग में ही उन्होंने एक कविता में भी यह लिखा था-'वैराग्य साधन से मुक्ति, सो वह हमारे लिए नहीं है।' अंत तक रवींद्रनाथ इसी आदर्श पर डटे रहे। 'चिरकुमार सभा' प्रहसन बारबार रंगमंच पर आया। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यद्यपि यह एक समसामयिक विषय को लेकर लिखा गया है, पर इसका व्यंग्य कहीं भी उन लोगों की भद्दी हँसी नहीं उड़ाता, जो संन्यास धर्म को अपनाकर चल रहे हैं, बल्कि इसका इंगित यही है कि यह धर्म हरेक के लिए नहीं है।

इसके बाद 'तासेर देश' प्रकाशित हुआ। इस नाटक में व्यंग्य की प्रधानता है और नौकरशाही तथा रूढ़िवाद पर फब्तियाँ कसी गई हैं। सब एक विशेष ढंग से बोलते, उठते, बैठते हैं। कोई दुड़ी, तिड़ी, छक्का, पंजा है, तो कोई गुलाम, बादशाह, बेगम। पर ऐसे देश में भी अंत तक दो व्यक्ति आते हैं और वह अपने साथ मुक्ति का गीत और साथ ही नियमों के प्रति विद्रोह ले आते हैं। कहना न होगा कि कवि ने इस प्रकार से रूढ़िवाद के विरुद्ध चोट पहले भी की थी और वे आगे भी बराबर करते रहे। 'अचलायतन' नामक नाटक में भी उन्होंने बाद को इसी प्रकार से समाज की रूढ़ियों के विरुद्ध झंडा बुलंद किया था।

'तासेर देश' के बाद 'शारदोत्सव' प्रकाशित हुआ। यह एक तरह से ऋतु का आवाहन करते हुए प्रकृति के सौंदर्य से ओत-प्रोत है। जो छोटा-सा कथानक है, उसमें कुल इतना कहने का प्रयास किया गया है कि आनंद का उपभोग करने के लिए मनुष्य को त्याग करना पड़ता है याने त्याग आनंद का एक दूसरा रूप है, वह रूप जिसके बिना मनुष्य न तो आनंद का अधिकारी होता है और न वह उसका उपभोग कर सकता है। स्वयं रवींद्रनाथ ने अपने एक लेख में इसका स्पष्टीकरण किया है कि

वे इस नाटक में क्या कहना चाहते थे। उनके शब्द हैं-''आत्मा का प्रकाश आनंदमय है। इसी कारण जो व्यक्ति दु:ख या मृत्यु को स्वीकार कर सकता है, भय अथवा आलस्य अथवा संशय में इस दु:ख के मार्ग से बचकर नहीं चलता, संसार में वही आनंद प्राप्त करता है। बाकी लोग आनंद से वंचित रह जाते हैं।" रहा यह कि कहाँ तक कथानक के ज़रिए यह विचार सामने आया है, इसमें थोड़ा-सा संदेह है, क्योंकि उपनंद अपने को शरत के उत्सव से इस कारण अलग रखता है और दुख की साधना करता है कि वह अपने प्रभु का कर्ज़ अदा कर सके। क्या इस कथानक से यह बू नहीं आती कि सामंत धर्म का निर्वाह करना चाहिए? बाद को यह 'शारदोत्सव' नाटक 'ऋण शोध' नाम से फिर से लिखा गया था। 'प्रायश्चित्त' नाटक सन 1909 में प्रकाशित हुआ और यह 'बहु ठाकुरानीर हाट' नामक उपन्यास से प्रस्तुत किया गया था, पर मूल उपन्यास से बहुत-सी बातों में भिन्नता है। धनंजय वैरागी जो 'प्रायश्चित्त' का एक मुख्य पात्र है, मूल उपन्यास में नहीं है। इस चरित्र के संबंध में बताया गया है कि यही चरित्र 'मुक्ति धारा', 'फाल्गुणी', 'अचलायतन' आदि आधे दर्जन नाटकों में विभिन्न नाम से आता है। वह वैरागी, आत्म-विस्मृत, चिरनवीन, निर्भय, सत्यवादी, अत्याचार-अविचार का चिरशत्रु है। श्री निहार राय तो यहाँ तक कहते हैं कि यह पात्र मानो नाटक का सदा उन्मुक्त चौड़ा-सा झरोखा है, जिसके अंदर की सारी वेदना, अटकी हुई दूषित वायु निकल जाती है और बाहर से स्वच्छ, सहज, सुनिर्मल आलोक की दीप्ति भीतर पैठती है।

बाद को 'प्रायश्चित्त' कुछ परिवर्तित होकर 'परित्राण' नाम से प्रकाशित हुआ। रवींद्र-साहित्य में यह विशेष द्रष्टव्य है कि कविवर ने पहले की लिखी हुई कई रचनाओं को बाद में नए रूप में प्रस्तुत किया। 'शारदोत्सव' के 'ऋण शोध' नाम से प्रकाशित होने की बात तो हम पहले ही बता चुके हैं। 'अचलायतन' भी बाद में परिवर्तित रूप से 'गुरु' नाम से प्रकाशित हुआ। 'राजा ओ रानी' का रूपांतर 'तपती' नाम से प्रकाशित हुआ। 'राजा' नाटक 'अरूप रतन' नाम से परिवर्तित रूप में प्रकाशित हुआ।

'राजा', 'अचलायतन' और 'डाकघर' ये तीनों नाटक 'गीतांजलि' और 'गीति माल्य' के बीच में लिखे गए थे। इसी कारण इनमें अतिमानवता या प्राकृतिक शक्तियों के संकेत के संबंध में बहुत अधिक उल्लेख मिलेंगे। 'रूपरतन' नाटक की भूमिका लिखते हुए कविवर ने यह अति स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ वस्तु आँख से देखी जा सकती है, हाथ से छुई जा सकती है, भंडार में संचित हो सकती है, जहाँ धन, जन, ख्याति है, बुद्धि का अभिमान है, बुद्धि के ज़ोर से बाहर ही जीवन की सार्थकता प्राप्त करने की चेष्टा है, सचाई उससे परे की चीज़ है। कहना न होगा कि यह सारी बात नाटक का स्पष्टीकरण न करते हुए उसे ले जाकर और भी धुँधलके में डाल देती है। 'अचलायतन' नाटक उसी प्रकार से एक ऐतिहासिक नाटक बन चुका है, जैसे बंकिमचंद्र का 'आनंदमठ'। शिक्षित याने अंग्रेज़ी शिक्षित बांग्ला समाज के लिए यह एक जलती हुई मशाल के रूप में हो गया। जो कुछ भी शास्त्र, आचार, नियम, विधान, मंत्र, तंत्र, वर्ण

और जाति का अभिमान हमारी प्रगति के मार्ग को रोककर खड़ा है, वही 'अचलायतन' है और उसी के विरुद्ध यह नाटक मानो विद्रोह के लिए मनुष्य को ललकारता है, भले ही उस 'अचलायतन' के पीछे शताब्दियों की छाप हो। इस नाटक में कथित छोटी जातियों याने अंत्यजों को उठाने की बात भी आती है। अचलायतन की दीवार ढह गई और विद्रोह की जय हुई। नई निष्ठा और नई श्रद्धा का सूत्रपात हुआ। रवींद्रनाथ ने इस नाटक की व्याख्या करते हुए अपने ढंग से कहा है-''मैं तो ऐसा समझता हूँ कि यूरोप में जो लड़ाई (1914-18) शुरू हुई है, वह इस कारण हुई है कि गुरु जी पधारे हैं। उन्हें परम पुरातन धन की दीवार, मन की दीवार, अहंकार की दीवार तोड़नी पड़ रही है। उनकी अगवानी के लिए कोई प्रस्तुत नहीं था, पर वे समारोह के साथ आएँगे, चाहे वे जब भी आवें। इसके लिए तैयारी बहुत दिनों से चल रही थी।''

रवींद्रनाथ ने यह व्याख्या नाटक-रचना के बहुत दिनों बाद लिखी। ऊपर जो शब्द दिए गए हैं, उनका स्पष्ट अर्थ समझना तो मुश्किल है, पर क्या उनका इंगित 1917 की रूसी समाजवादी राज्य-क्रांति से था? बात यह है कि कई बार अनुप्रेरित अवस्था में साहित्य-सृजक ऐसी बातें कह जाता है, जिसका पूरा अर्थ वह भी नहीं समझता। घटनाएँ ही उनका अर्थ स्पष्ट करती हैं। 'डाकघर' एक रहस्यमय काव्य धर्मी नाटक है। यह नाटक शांति निकेतन में तीन दिन के अंदर लिखा गया था। इसका प्रथम अभिनय जोड़ासाँको वाले मकान में हुआ था और दर्शकों में महात्मा गांधी, मदनमोहन मालवीय, लोकमान्य टिळक, लाजपतराय और खापर्डे आदि नेता थे। यह नाटक रहस्य और संकेत से इस प्रकार से ओत-प्रोत है कि इसकी सामाजिक व्याख्या करना कठिन है। शायद इसी कारण प्रभातकुमार मुखोपाध्याय ने इस नाटक की व्याख्या रचयिता की जीवनी से करनी चाही है। बात यह है कि बचपन में उनका जीवन भी बड़ा अवरुद्ध था और वे सैकड़ों विधि-निषेधों के अंदर पले थे। वह थे तो रुद्ध गृह के वासी, पर प्रत्येक घटना उनके मन में तरंगमाला की सृष्टि करती थी। वे सबकुछ देखते थे, मन भीतर-ही-भीतर रोता था और मिलन संभव नहीं होता था।

'डाकघर' के चार वर्ष बाद 'फाल्गुणी' की रचना हुई। 'शारदोत्सव' की तरह यह भी ऋतु को लेकर लिखा गया है। स्मरण रहे कि इस बीच कविवर यूरोप की यात्रा कर आए थे। इसमें भी आनंद और यौवन की वही व्याख्या की गई है, जो इससे पहले की पुस्तकों में दृष्टिगोचर होती है। स्वयं कविवर ने 'फाल्गुणी' की व्याख्या करते हुए कहा है-''जीवन को सत्य करके जानने के लिए मृत्यु के बीच से उसका परिचय चाहिए। जो मनुष्य डरकर मृत्यु से बचकर जीवन से लिपटा हुआ है, जीवन पर उसकी यथार्थ श्रद्धा नहीं है, इसी कारण उसने जीवन को नहीं प्राप्त किया है। इसी कारण वह जीवन के मध्य में रहकर भी प्रतिदिन मृत्यु की विभीषिका से मरता है।''

इन्हीं दिनों कविवर ने 'बलाका' नामक संग्रह की कविताएँ लिखी थीं, जिनमें इसी प्रकार के स्वस्थ और ओजस्वी विचार प्रस्तुत किए गए थे। 'बलाका बहुत दिनों तक क्रियाशील क्रांतिकारियों की पाठ्य-पुस्तक के रूप में काम आता रहा, पर इस कारण

उसका साहित्यिक मूल्य कुछ कम नहीं है। 'फाल्गुणी' के पहले कवि ने 'वैराग्य साधन' नाम से एक छोटी-सी नाटिका लिखी थी, जो एक तरह से 'फाल्गुणी' की भूमिका या व्याख्या थी। इन दिनों कविवर की उम्र 54 हो चुकी थी, पर उन्होंने स्वयं 'फाल्गुणी' में बाउल का अभिनय किया। कहते हैं, यह अभिनय बहुत ही सुंदर हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि 'फाल्गुणी' ने कविवर के साहित्य में एक और मज़बूत कड़ी की सृष्टि करने के साथ ही रूढ़िवाद के विरुद्ध हमला बोला। 'फाल्गुणी' के सात वर्ष बाद 'मुक्तधारा' नामक नाटक लिखा गया। 'मुक्तधारा' में कुछ और ही राग अलापा गया है । एक आलोचक का कहना है कि जिस समय वे 'फाल्गुणी' लिख रहे थे, उस समय महायुद्ध (1914-18) जारी था। उन्होंने उसमें शक्ति और यौवन का प्राचुर्य देखा था और उन्हें यह आशा थी कि रात्रि की तपस्या से दिन की रोशनी सामने आएगी, मृत्यु से अमृत प्राप्त होगा, इत्यादि। इस बीच महायुद्ध का अंत हुआ, पर कवियों और मनीषियों का स्वप्न सत्य नहीं हुआ था, बल्कि पूँजीवाद ने अपनी जकड़ और भी कड़ी करनी चाही थी। वे इस बीच एक बार विश्व-भ्रमण भी कर आए थे। इसी बीच जलियाँवाला बाग हत्याकांड हुआ था। उन्होंने सर की उपाधि त्याग दी थी, गांधीजी का असहयोग-आंदोलन इस बीच आकर जा भी चुका था और सत्याग्रह का युग शुरू हो गया था। इन्हीं परिस्थितियों से गुज़रकर जब वे सुदीर्घ भ्रमण से देश लौटे तो उन्होंने 6 महीने के अंदर 'मुक्तधारा' और दो साल के अंदर 'रक्त करबी' की रचना की। 'मुक्तधारा' पर केवल बाहरी घटनाओं की ही छाया है, ऐसा मानना असंभव है। इसमें जहाँ यांत्रिकता या यंत्र-सभ्यता के प्रति क्रोध है, वहाँ शासक-जाति की दुष्टता और पराधीन जाति के दुख का भी चित्रण है। यांत्रिकता के प्रति कविवर का जो विद्वेष है, वह कुछ-कुछ गांधीवादी बल्कि गांधीजी के पहले भी इस प्रकार के मत रखनेवालों के ढर्रे पर चलता है, मानों यंत्र का ही दोष है, जबकि दोष उस समाज-व्यवस्था का है, जिसमें यंत्र एक वर्ग-विशेष के शोषण का साधन बन जाता है। इसी कारण 'मुक्तधारा' में अभिजित यंत्र को तोड़ डालता है, पर यंत्र को जिन लोगों ने शोषण के लिए प्रयुक्त किया, उनके विरुद्ध कुछ नहीं करता। फिर भी 'मुक्तधारा' नाटक के रूप में सफल है।

'रक्त करबी' भी करीब-करीब उन्हीं विचारों को लेकर चलता है, जो 'मुक्तधारा' का उपजीव्य है। पहले 'रक्त करबी' शिलांग पर रचित हुआ था और इसका नाम 'यक्षपुरी' रखा गया था। इसकी कहानी इतनी-सी है कि कुछ लोग लोभ तथा अन्य कारणों से अपने ही बनाए हुए जेलख़ानों में बंद हैं और जेलख़ाने के सीखचों से बाहर जीवन की प्रतीक स्वरूपा नंदिनी उन्हें बुला रही है। वह जेलख़ाना ही यक्षपुरी हैं। यक्षपुरी के राजा ने नंदिनी को उसी प्रकार से पाना चाहा, जिस प्रकार से वे स्वर्ग तथा धन-संपत्ति प्राप्त करते हैं, पर प्रेम और सौंदर्य को ऐसे थोड़े ही पाया जाता है। 'रक्त करबी' गीतधर्मी है, साथ ही उसमें रोमांस का वातावरण है। 'रक्त करबी' की रचना के बाद कविवर ने कुछ पुरानी कहानियों और नाटकों को नए रूप में पेश किया। 'कर्मफल' नामक कहानी का नाट्य रूप 'शोध बोध' हुआ और 'शेषेर रात्रि'

कहानी का नाट्य रूप 'गृह-प्रवेश' हुआ। नाटक रूप में 'शोध बोध' अधिक सफल रहा। इसके बाद उन्होंने जिन रचनाओं को नए रूप में रक्खा, उनका पहले ही किसी-न-किसी रूप में उल्लेख आ चुका है।

1916 में 'प्रवासी' में कविवर का एक नाटक 'रथयात्रा' नाम से प्रकाशित हुआ था। इसी का परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप 'रथेर रशि' (रथ की रस्सी) हुआ। इसे श्री निहार रंजन ने आधुनिक लोकतांत्रिक भारतीय गण मन का घोषणापत्र बतलाया है। भारतीय समाज-व्यवस्था का रथ चल नहीं पाता, पुरोहित का मंत्र, क्षत्रिय का शौर्य, पूँजीपति की पूँजी याने शास्त्र, शस्त्र, सब उसे चलाने में असफल रहे। इतने में बाढ़ के पानी की तरह शूद्रों का दल आया, जो अपनी एकता के बल से उसे चलाने में समर्थ हुआ, पर रथ पुरानी लीक पर न चलकर नए प्रशस्त मार्ग में चल पड़ा। शूद्र शक्ति की जय हुई। इतने में आए कवि। लोगों ने उनसे पूछा कि यह क्या हुआ ? तब कवि ने बताया-''उनका सिर बहुत ऊँचा था, महाकाल के रथ की चूड़ा पर ही उनकी दृष्टि निबद्ध थी, नीचे की तरफ उनकी आँख देखती ही नहीं थी, इसीलिए उन्होंने रथ की रस्सी की अवज्ञा की। मनुष्य के साथ मनुष्य को जो बंधन बाँधता है, उसे उन्होंने नहीं माना, इस कारण पूजा धूल में गिरी और भक्ति मिट्टी में ही पड़ी रही। रथ की रस्सी बाहर पड़ी रहती है। वह रहती है मनुष्य और मनुष्य में बँधी हुई, देह से देह और प्राण से प्राण में युक्त। वही अपराध जमा हो गया और बंधन दुर्बल हो गया। सब लोग मिलकर कहो कि जो इतने दिनों तक मरे हुए थे, वे जी उठे और जो इतने दिनों तक तुच्छ थे, वे एक बार सिर उठाकर खड़े हों।'' इस प्रकार यह नाटक पुरोहितवाद, पूँजीवाद तथा इस प्रकार के सब शोषक वादों के विरुद्ध जन-विद्रोह की आवाज़ को बुलंद करता है।

इसके बाद 'कविवर दीक्षा' में भी त्याग की महिमा गाई गई है। इसके बाद जो नाटक तथा नाटिकाएँ लिखी गई, उनमें 'गीति और नृत्य' नाट्यों की ही प्रधानता है। ऐसे नाटकों में 'नटीर पूजा', 'नृत्य नाट्य', 'चित्रांगदा', 'शाप मोचन' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से 'नटीर पूजा' ही इधर के सब नाटकों में अधिक सफल माना गया है । इन नाटकों में कथानक का विकास भी सुंदर ढंग से होता है। रानी लोकेश्वरी के मन में जो द्वंद्व है, उसी का चार अंकों में जिस प्रकार विकास दिखलाया जाता है, वही इस नाटक की सफलता के लिए काफी होता, पर इसमें और भी तत्त्व हैं।

इस प्रकार से हमने रवींद्रनाथ के नाटकों का जो थोड़ा-सा वर्णन दिया है, उससे उनके नाटकों ने बांग्ला के साहित्य ही नहीं, सांस्कृतिक जीवन में भी कैसी महान क्रांति उपस्थित की, इसका पूरा अनुमान नहीं किया जा सकता। अब हम बहुत ही संक्षेप में कहानियों के क्षेत्र में उनके योगदान का उल्लेख करेंगे। सच तो यह है कि रवींद्रनाथ से ही बांग्ला साहित्य में कहानी की प्रतिष्ठा हुई। इस संबंध में कुछ आँकड़े इस प्रकार हैं। हम इस प्रसंग को 'रवींद्र साहित्येर भूमिका' से उद्धृत करते हैं- ''उनकी अधिकांश कहानियाँ मोटे तौर पर बंगाब्द सन 1268 से 1310 के बीच रचित हुईं। अवश्य इसके बाद भी कई प्रसिद्ध कहानियाँ 1314 से 1325 के अंदर लिखी गई थीं, पर उनकी

अधिकांश कहानियों का मूल धर्म 1286 से 1310 तक की रचनाओं में प्राप्त होगा। 'पोस्टमास्टर' कहानी 1286 में लिखी गई थी।'' इन दिनों कविवर ने ज़मींदारी की देख-रेख का भार लिया था और वह दिनभर पूर्व बंगाल की नदी में नाव पर ही काटते थे। इन्हीं दिनों उन्हें गाँव के जीवन से घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने का मौका मिला। 1864 के 27 जून को उन्होंने सियालदह से एक पत्र में लिखा था-''आजकल ऐसा मालूम होता है कि यदि मैं कुछ भी न कर कहानियाँ लिखूँ तो उससे मुझे कुछ-कुछ मानसिक सुख प्राप्त हो और यदि मैं इसमें सफल रहूँ तो दस-बीस पाठकों को भी सुखी कर सकूँ। कहानी लिखने का एक सुख यह है कि जिनकी बात मैं लिखूँगा, वह हमारे दिन और रात के खाली समय को एकदम भर देंगे, मेरे अकेले मन के साथी होंगे, वर्षा के समय मेरे बंद कमरे की संकीर्णता दूर करेंगे और धूप के समय पद्मा तट के उज्ज्वल दृश्य के बीच मेरी आँख के सामने घूमते रहेंगे। इसीलिए आज सवेरे मैंने गिरिबाला नाम से एक उज्ज्वल श्याम रंग की एक छोटी अभिमानी लड़की को अपने कल्पना राज्य में अवतरित किया है।''

इस अवसर पर 'मेघ ओ रौद्र' कहानी लिखी गई। इसी प्रकार श्री राय ने दिखलाया है कि दो साल पहले याने 26 जून सन 1892 में शाहजादपुर की कोठी में गाँव के पोस्टमास्टर साहब आए थे। इस तरह 'पोस्टमास्टर' कहानी लिखी गई। हम यहाँ पर उनकी कहानियों की विस्तृत आलोचना नहीं कर सकते, पर इतना बता दें कि कई लोग यह समझते हैं कि उन्होंने कहानियाँ उसी प्रकार एक-एक शब्द जोड़कर लिखीं, जैसे कविता लिखी जाती है, इस कारण वह कला की दृष्टि से किसी भी अंश में निकृष्ट नहीं हैं। यदि वर्ग की दृष्टि से विचार किया जाय, तो रवींद्रनाथ स्वयं अभिजात वर्ग में पैदा हुए थे, उसी में वह पले और बड़े हुए, पर वह साहित्य के क्षेत्र में मध्यवित्त समाज के ही प्रतिनिधि हैं। एक बात और है, वह यह कि कहानी-रचना के आदि पर्व में वह मानो केवल वैयक्तिक जीवन को केंद्र बनाकर चलते हैं।

रवींद्र-साहित्य की भूमिका का यह उद्धरण देखिए-''लेखक ने सब कुछ लगाकर सिर्फ़ हमारे हृदय को ही छूना चाहा है। हमारी बुद्धि और समाजचेतना को उद्‌बुद्ध करने की तरफ उनका ध्यान उतना अधिक नहीं है। मध्यवित्त तथा ग़रीब तबके के लोगों के दुख-दर्द, अपमान, अत्याचार, अविचार, अन्याय, असंगति वे सब कुछ दिखाते हैं और उनका वास्तविक परिचय हमारे निकट लाते हैं, परंतु इन सबके पीछे समाज और राष्ट्र-व्यवस्था का निर्मम, निष्ठुर, साथ ही अचेतन अविचार हो सकता है, इस संबंध में वह हमें कोई इंगित नहीं देते। 'नष्ट नीड़' कहानी से सामाजिक चेतना का प्रारम्भ होता है।''

❖❖

बंगला साहित्य-दर्शन, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९६० से साभार

टैगोर और गांधी की भारत-चिंता

● डॉ. इंद्र नाथ चौधुरी

रवींद्रनाथ टैगोर की मृत्यु की ख़बर मिलने पर जवाहरलाल नेहरू ने 7 अगस्त, 1941 को अपनी जेल डायरी में लिखा था- मैं विश्व के नाना स्थानों में नाना प्रसिद्ध व्यक्तियों से मिला हूँ, परंतु मेरे मन में, इसको लेकर कोई संदेह नहीं है कि विश्व के सर्वश्रेष्ठ दो व्यक्तियों से मिलने का, जो सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था, वे महात्मा गांधी और टैगोर थे। शताब्दी के चौथाई हिस्से के ये दो असाधारण व्यक्ति थे। समय की गति के साथ जब दुनिया के सारे जनरल और फील्ड मार्शल और तानाशाह व शोर मचाने वाले राजनेताओं की मृत्यु हो जाएगी और लोग उन्हें क्रमशः भूल जाएँगे, तब वे मेरी बात को स्वीकार करेंगे।'

आगे चलकर नेहरू ने लिखा था- 'परंतु यह आश्चर्यजनक बात है कि प्रज्ञा, विचार तथा संस्कृति के एक ही स्रोत से प्रेरणा ग्रहण करने वाले, इन दोनों में इतना साम्य होने के बावजूद, एक-दूसरे से इतना अधिक अंतर भी है। टैगोर और गांधी जैसे दो व्यक्तियों के बीच, इतना अंतर दिखाई देना कदाचित एक असाधारण घटना है।'

दोनों के बीच का विरोध मगर अपरिहार्य था। सन 1915 में यह अव्यक्त था। जब 6 मार्च को दूसरी दफ़ा गांधी शांति निकेतन आए थे। उनकी तब सजातीय आत्मा से मुलाक़ात हुई। दोनों यह जानते थे कि उनकी लड़ाई गुलाम देश की जनता के नैतिक उत्तरदायित्व से संबंधित एक समान आदर्श के लिए है।

कुछ सप्ताह पहले वे शांति निकेतन आए थे, तब टैगोर कलकत्ते में थे- विद्यार्थियों ने उनकी और उनकी पत्नी की काफी अच्छे तरीके से स्वागत और देखभाल की थी- गांधी ने अपनी प्रशंसा व्यक्त करते हुए बाद में कहा था- The teachers and students overwhelmed me with affection : The reception was a beautiful combination of simplicity, art and love.

6 मार्च को दूसरी दफ़ा आकर उन्होंने कवि

को, तब तक रवींद्रनाथ टैगोर वापस आ गए थे, छात्रावास की व्यवस्था में परिवर्तन करने की सलाह दी थी। (एक)- खाना परोसने और इकट्ठे बैठ के खाने में कोई जातिभेद नहीं होना चाहिए। (दो)- नौकरों पर आश्रित हुए बिना छात्रों और अध्यापकों को खाना पकाने से लेकर सारे काम स्वयं करना चाहिए।

कवि ने कहा मैं जाति भेद में विश्वास नहीं करता, परंतु छात्रों को उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई कुछ स्वीकार करने के लिए बाध्य भी नहीं कर सकता। गांधी ने उनकी दलील को स्वीकार नहीं किया था। गांधी के स्वावलंबन संबंधी आदर्श को स्वीकार करते हुए 10 मार्च से गांधी और कस्तूरबा के सामने यह प्रयोग शुरू हुआ, परंतु बहुत अधिक दिनों तक चल नहीं सका। यद्यपि प्रत्येक वर्ष 10 मार्च को शांति निकेतन में गांधी दिवस मनाया जाता है और उस दिन छात्रावास में नौकरों को छुट्टी दी जाती है तथा छात्र व अध्यापक छात्रावास में खाना पकाने से लेकर सारा काम करते हैं। यहाँ यह सूचना देना अनावश्यक नहीं होगा कि 11 मार्च, 1915 में रंगून से वापस आकर साबरमती में गांधी ने अपने आश्रम की स्थापना की थी।

13 अप्रैल 1919 के जलियाँवाला हत्याकांड के बाद दोनों के बीच का विरोध खुल गया। जब रौलेट समिति रिपोर्ट 8 जुलाई, 1918 को प्रकाशित हुई थी, तब देश भर में उसका गहरा विरोध हुआ था, लोगों ने अपनी नाराज़गी व्यक्त की थी। 23 मार्च, 1919 को रौलेट ऐक्ट पारित हुआ, तब गांधी ने इसको निरस्त करने के लिए प्रतिरोधी आंदोलन चलाने का निर्णय लिया। 30 मार्च को सारे देश में हड़ताल का ऐलान किया गया। परिणामत: दिल्ली में हड़ताल के समय उत्पात शुरू हुआ। 6 अप्रैल को गांधी ने एक और हड़ताल का ऐलान किया और तब भी पुलिस और उपद्रवी, उत्तेजित भीड़ के बीच काफी अप्रिय झड़पें हुईं। गांधी, उस समय बंबई में थे और जब दंगों को रोकने दिल्ली के लिए रवाना हुए तो रास्ते में ही पुलिस ने, उन्हें रोक लिया और बंबई वापस भेज दिया।

10 अप्रैल, 1919 को पंजाब की सरकार ने पंजाब में मार्शल लॉ की घोषणा कर दी और अमृतसर को जनरल डायर के हाथों सौंप दिया गया। 12 अप्रैल को टैगोर ने गांधी को एक खुली चिट्ठी लिखी, जो इंडियन डेली न्यूज़ में 16 अप्रैल को प्रकाशित हुई।

गांधीजी को महात्मा के नाम से संबोधित करते हुए टैगोर ने लिखा: 'शक्ति का हर रूप अबौद्धिक है। निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) का प्रयोग शक्ति के रूप में हो रहा है, जो हमेशा अपने में नैतिक नहीं होता। इसका प्रयोग सत्य के पक्ष और विपक्ष दोनों ही स्थितियों में किया जा सकता है। प्रत्येक शक्ति की ताक़त में एक अंतर्निहित ख़तरा छिपा रहता है, और जब कोई शक्ति अधिक बलशाली हो जाती है और सफलता को चूमना शुरू करती है, तब वह प्रलोभन का रूप धारण करती है। मैं जानता हूँ, आपकी शिक्षा अच्छाई की सहायता से बुराई के विरुद्ध लड़ाई लड़ना है इस तरह का युद्ध करना वीरों, नायकों का काम है ना कि किसी एक क्षणिक आवेश से प्रेरित होकर जनता का काम है। बुराई से स्वाभाविक रूप से बुराई पैदा होती है। अन्याय, हिंसा के लिए प्रेरित

करता है और अपमान प्रतिरोध की भावना को जन्म देता है। दुर्भाग्य से इस तरह का शक्ति प्रयोग शुरू हो चुका है। यह तो आतंकित होकर अथवा क्रोध के वशीभूत होकर हमारे अधिकारीगण पंजों के नाख़ून दिखाना शुरू कर देंगे जिसका निश्चित परिणाम होगा कि या तो हम में से कुछ विद्वेष के गुप्त रास्ते पर चल पड़ेंगे या दूसरे उत्साह भंग के शिकार बनेंगे।

असहयोग आंदोलन के दौरान गांधी-टैगोर विवाद के इतिहास से संबंधित यह सबसे पहला महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है। यह पत्र 13 अप्रैल को घटित जलियाँवाला हत्याकांड के एक दिन पहले लिखा गया था।

6 मार्च 1915 के बाद गांधी-टैगोर की दूसरी भेंट दिसंबर 1917 में हुई थी जब इंडियन नेशनल कांग्रेस के 23वें अधिवेशन में गांधी ने टैगोर की 'भारत की प्रार्थना' नामक एक कविता की आवृत्ति की थी:

''तुम्हारे नाम पर हम बल का विरोध करते हैं, जो हमारी आत्मा में अपना झंडा गाड़ना चाहता है।

यह हम जान लें कि जो शृंखलाबद्ध होकर अपमान सहता है।

उनकी आत्मा में तुम्हारा प्रकाश धुँधला जाता है।

जब जीवन दुर्बल हो पड़ता है, तब बुजदिली में, वह असत्य के सिंहासन के प्रति अपने को समर्पित करता है।''

इस प्रार्थना को हम आसानी से गांधी की प्रार्थना कहकर चला सकते हैं जिन्होंने इसमें पुनस्संजीवित लोगों की आवाज़ सुन पाई होगी, जिसमें राष्ट्रीय आदर्शों की घोषणा है।

उसी वर्ष 1917 में टैगोर के जोड़ासाँको भवन में गांधी, टिळक, मदन मोहन मालवीय तथा एनी बेसेंट की उपस्थिति में 'डाकघर' नाटक का, जिसमें टैगोर ने स्वयं फकीर की भूमिका निभाई थी, मंचन हुआ था। गांधी ने इस नाटक को देखने के बाद इसकी प्रशंसा की हो या और कुछ कहा हो उसका कोई लिखित रिकॉर्ड उपलब्ध नहीं है। तीसरी दफ़ा ये दोनों 2 अप्रैल 1920 में अहमदाबाद में मिले

थे जहाँ गांधी जी ने स्वयं गुजराती साहित्य सभा के अधिवेशन में टैगोर को अध्यक्षता करने के लिए 18 अक्टूबर 1919 और 14 जनवरी 1920 को निमंत्रण दिया था। टैगोर 1 अप्रैल 1920 को अहमदाबाद पहुँचे थे। 2 अप्रैल को उन्होंने अपना अध्यक्षीय भाषण दिया और फिर साबरमती आश्रम में गए थे, जहाँ दूसरे दिन उन्होंने प्रात: कालीन प्रार्थना सभा में भाग लिया। गांधी-टैगोर की यह बैठक इस दृष्टि से महत्वपूर्ण थी कि इससे पहले 30 मई 1919 को गांधी ने अपना नाइटहुड वापस कर दिया था और इस बैठक के बाद अगस्त 1920 में कैंसर-ए-हिंद मैडल भी वापस कर दिया था। दोनों ही घटनाएँ एक हृदयहीन ब्यूरोक्रेसी के विरुद्ध भारतीय अंत:करण या विवेक की प्रतीकात्मक प्रतिवाद थी। अहमदाबाद में गांधी-टैगोर वार्तालाप का कोई रिकॉर्ड नहीं है परंतु हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि असहयोग आंदोलन को लेकर दोनों में लंबी बहस हुई होगी। दोनों में गहरी असहमति रही होगी, फिर भी एक दूसरे के लिए जो सम्मान का भाव है वह पहले जैसा ही बरकरार रहा होगा। जो विरोध पहले 1915 में अव्यक्त था वह 1919 में खुल गया और 1921 में वह जनता के सामने आ गया। जब असहयोग आंदोलन 31 अगस्त 1920 में आरंभ हुआ तब टैगोर यूरोप में थे। नाइटहुड वापस देकर बरतानिया के प्रति उन्होंने जो ग़ैर-वफ़ादारी की या राजभक्ति नहीं दिखाई, उससे इंग्लैंड के लोग उनके विरोध में चले गए थे। उनके भाषण के दौरान पोयेट लॉरेट राबर्ट ब्रिजेस ने बड़ी नम्रता के साथ अध्यक्षता करने से इन्कार कर दिया था। यहाँ तक कि केंस, डिकेंसन तथा एंडरसन कैंब्रिज में उनके मेज़बान होने के बावजूद उनसे कतराते रहे और ब्रिटिश होम ऑफिस में उनके क्रियाकलापों पर ध्यान रखने के लिए एक जासूस की नियुक्ति भी की थी। इंग्लैंड से फ्रांस पहुँचकर टैगोर ने एंड्रयूज को पत्र लिखा था-''पंजाब में डायरिज्म को लेकर तुम्हारे पार्लियामेंट में जिस तरह की बहस हुई है और घमंड, अहंकार, हेकड़ी का जिस तरह तिरस्कारपूर्ण प्रदर्शन हुआ तथा भारत को लेकर कठोर बात की गई, उससे मैं बहुत ही दुखी हुआ हूँ और इंग्लैंड छोड़ने पर मुझे काफी राहत मिली।''

यह चिट्ठी 13 अगस्त 1920 को असहयोग आंदोलन के प्रारंभ होने के 18 दिन पहले लिखी गई थी। विजय राघवाचारी की अध्यक्षता में इंडियन नेशनल कांग्रेस का 35 वाँ अधिवेशन दिसंबर 1920 में आयोजित हुआ जिसमें असहयोग आंदोलन के प्रस्ताव की पुष्टि कर दी गई जो कलकत्ते में इंडियन नेशनल कांग्रेस के एक विशेष सत्र में पारित हुआ था। 2 मार्च 1921 में लंदन से टैगोर ने एंड्रयूज को असहयोग आंदोलन के पक्ष में लिखते हुए कहा, *'आत्मोत्सर्ग, हाँ। यह उत्साह और कष्ट सहने की इच्छा, मैं आशा करता हूँ पूरी ताक़त के साथ इसका विस्तार होगा। जो उपर्युक्त ही है कि जो अपमानित भारत की जनता और असहाय निर्बलों के अंदर छिपी हुई जो असीम शक्ति है उसे महात्मा ने ललकारा है। भारत की यह नियति है कि उसने अपने सहयोग के लिए आत्मा की शक्ति का न कि शारीरिक बल का चुनाव किया है। भारत को इस तरह मनुष्य के इतिहास के स्तर को कीचड़ से सने हुए हुए पारस्परिक शारीरिक संघर्ष से ऊपर*

उठाकर उच्च नैतिक स्तर तक ले जाना है।'

टैगोर को धीरे-धीरे यह एहसास होने लगा कि असहयोग आंदोलन के द्वारा देश का उद्धार संभव नहीं है। उनकी पहली आपत्ति यह थी कि ख़िलाफ़त आंदोलन की तरह उसकी शुरुआत हुई है। दूसरी यह कि बड़े आकार में टैगोर रचनात्मक कार्य के पक्ष में थे, जिससे कि पॉलीटिकल फ्रीडम के लिए सही ज़मीन तक तैयार हो सके। वे शांतिनिकेतन में रचनात्मक कार्य का अपना हिस्सा निभाना चाहते थे, यही बात एंड्रयूज को 3 अक्टूबर 1920 को लिखे एक पत्र में जताई थी कि मैं शांतिनिकेतन को धूल-धूसरित राजनीति के चक्रवात से बचा के रखना चाहता हूँ। तीसरा, उन्हें इस बात का डर था कि असहयोग आंदोलन अहिंसात्मक नहीं रह पाएगा और बहुत जल्द अपव्ययी लोकप्रिय उन्माद, क्रोध में बदल जाएगा। मार्च 1921 में टैगोर ने एंड्रयूज को 3 पत्र (02 मार्च 1921, 05 मार्च 1921, 13 मार्च 1921) लिखे। यह बताते हुए कि असहयोग आंदोलन हिंसा पर उतर आएगा। गांधी ने 4 जून 1921 को यंग इंडिया में टैगोर को आश्वस्त करते हुए लिखा कि असहयोग आंदोलन राष्ट्रवाद को वही अर्थ देना चाहता है जो टैगोर को इच्छित है।

टैगोर ने इस पत्र का बहुत ही सोचा-समझा उत्तर बांग्ला में जनता के बीच दिए गए एक भाषण में 19 अगस्त 1921 को कोलकाता में दिया था। जिस का अंग्रेज़ी रूपांतरण अक्टूबर 1921 में मॉडर्न रिव्यू में प्रकाशित हुआ और टैगोर के निबंध संकलन (Towaerds Universal Man 1961) में प्रकाशित हुआ। यह बांग्ला मूल की 'प्रवासी' पत्रिका में अक्टूबर 1921 में प्रकाशित हुआ था और बाद में इसे 1937 में 'कालांतर' में संकलित किया गया।

यह असहयोग आंदोलन के विरुद्ध टैगोर का सबसे शक्तिशाली तथा विस्तृत वक्तव्य है। टैगोर ने एक सेट ऑफ़ फार्मूला, नुस्खों तथा औज़ारों के विरुद्ध एक प्रकार के क्लिष्ट सम्मोह का विरोध करते हुए कहा था कि यह देश के विकास को पीछे धकेल सकता है। उनका कहना था: *हमारे अधिनायक महात्मा के प्रति हमारी भक्ति में कोई कमी नहीं आनी चाहिए ताकि हम प्रेम सत्यता में निहित उसकी संपूर्ण पवित्रता को समझ सकें क्योंकि स्वराज के निर्माण की कला और विज्ञान बहुत ही विस्तृत है। इसके रास्ते बहुत ही कठिनाई से नापे जाते हैं और उसी में समय लगता है। इस काम के लिए प्रेरणा और आवेग की आवश्यकता है परंतु साथ ही ज्ञान और विचार की भी उतनी ही आवश्यकता है। इसके लिए अर्थशास्त्री को सोचना है, कारीगर को मेहनत करनी है, शिक्षाविद और राजनीतिवेत्ताओं के वक्तव्य से प्रबंधन की सीख लेनी है। एक शब्द में देश की आत्मा को अविकल, अखंड तथा अबाधित रखना है, उसकी आत्मा को खुली या गोपनीय बाध्यता के द्वारा निष्क्रिय और बुज़दिल नहीं बनना है।*

गांधी के द्वारा चरखा के प्रचार, विदेशी वस्त्र की होली, अंग्रेजी शिक्षा के विरोध में वक्तव्य तथा राजा राममोहन की 'यंग इंडिया' में 27 अप्रैल 1921 में आलोचना (अल्प बुद्धि बौना कहना) करने पर टैगोर ने उसका उत्तर एंड्रयूज को लिखे दो पत्रों में दिया। पत्रों का सार निम्नलिखित है।

1) चरखा, मनुष्यों के बौद्धिक विकास में सहायक नहीं है। यह विवेक और परिश्रम का कोई विकल्प नहीं है-सफलता की कुंजी विवेकपूर्ण कठोर परिश्रम है। इस तरह के एक विचार के साथ आम जनता को संबद्ध करने से कुछ लाभ होने वाला नहीं है। हमारी ग़रीबी एक जटिल वस्तुस्थिति है। चरखे से सूत कातने और वस्त्र बुनने से ग़रीबी की समस्या हल नहीं हो पाएगी। हमारी ग़रीबी सूत के अभाव से नहीं, हमारी प्राणशक्ति और एकता के अभाव के कारण है।

2) विदेशी वस्त्र की होली के बारे में उनका कहना था कि ग़रीब जनता के पास जो थोड़ा कुछ है उसके सम्मान और जीवन धारण के लिए उसका विसर्जन करने के लिए कहना अनुचित है। मैंचेस्टर के वस्त्र को ख़रीदना या ना ख़रीदना अर्थशास्त्र का मामला है। गांधी जी का उत्तर था, विदेशी वस्त्रों को जलाकर मैं अपनी लज्जा को जताता हूँ, फिर ऐसा कोई अर्थशास्त्र जो व्यक्ति और देश के कुशल मंगल के लिए ख़तरा है, उसे अनैतिक और पापपूर्ण कहना ही ठीक है।

3) गांधीजी ने निश्चय ही राजा राममोहन राय को पिग्मी, अल्पबुद्धि, बौना कहा था। आगे चलकर उन्होंने इस अपशब्द को हटा दिया था। फिर भी अपने सिद्धांत पर अटल रहते हुए उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षा का विरोध किया। टैगोर ने ज्यूरिख से 10 मई 1921 को एंड्रयूज को एक पत्र में लिखा था कि गांधी ग़लत सोचते हैं कि राजा राममोहन राय के अंग्रेजी ज्ञान के आधिक्य के कारण भारत के बारे में उनका अल्प ज्ञान था। इसके विपरीत बहु विस्तीर्ण बोध शक्ति के कारण ईसाई, हिंदू तथा इस्लाम की मूलभूत एकता का उन्हें अनुभव था इसलिए संपूर्ण सत्य पर आश्रित राजा राममोहन राय भारत के सही प्रतिनिधि हैं। उनकी शिक्षा भारतीय है लेकिन पश्चिम को स्वीकार करने में उन्हें कोई बाधा नहीं थी। वे पश्चिम के स्कूल के विद्यार्थी नहीं है, इसलिए सम्मान के साथ पश्चिम के मित्र बन सके हैं।

गांधी का प्रत्युत्तर उनके द्वारा लिखा गया सबसे सुंदर उत्तर था। 13 अक्टूबर 1921 को 'द ग्रेट सेंटिनल' शीर्षक से यंग इंडिया में प्रकाशित हुआ।

सत्य और विवेक के पक्ष में खड़े होने पर कवि देश की जनता के धन्यवाद के पात्र हैं। मैं कवि को देश का प्रहरी मानता हूँ जो कट्टरता, आलस्य, असहनशीलता, निष्क्रियता और इसी तरह के दूसरे शत्रुओं के बारे में हमें लगातार सचेत करते रहते हैं।

मगर इस पत्र में उन्होंने असहयोग आंदोलन, चरखा तथा गांधी का पुरज़ोर समर्थन किया और अंत में लिखा: *'कबीर के एक गीत के द्वारा किसी मरीज़ की वेदना को शांत करना मेरी दृष्टि में असंभव है, लाखों भूखी जनता एक शक्तिवर्धक खाद्य रूपी कविता की माँग करती है।'*

टैगोर-गांधी के मध्य 1921 में हुई विवादास्पद बहस का टैगोर ने कलकत्ते में यूनिवर्सिटी इंस्टिट्यूट में दिए गए एक भाषण-'सत्य की पुकार', में उत्तर दिया। उन्होंने कहा- *'सुबह जब पक्षियों की नींद टूटती है तब उनका जगना केवल आहार ढूँढ़ने के लिए नहीं होता है। उनके दो अथक पंख आकाश का निमंत्रण स्वीकार करते हैं और प्रकाश के आगमन पर उनके मन में गीत फूट पड़ता है और*

तब विश्वमानव की चेतना हमारी चेतना को दस्तक देती है दिखाई देती है।'

महात्मा गांधी ने यंग इंडिया में इसका उत्तर देते हुए लिखा कि सुबह नींद खुलने पर जो पक्षी उड़ना चाहते हैं उनको ग़ौर से देखने पर पता लगेगा कि आहार के अभाव में शक्ति की कमी होने के कारण कोशिश करने पर भी उनके पंखों में उड़ान भरने की ताक़त पैदा करना संभव नहीं होता।

बंबई में 17 नवंबर 1921 में दंगे फैलाने के कारण गांधी जी ने नवंबर 1921 में बारडोली में 'नौ टैक्स' सत्याग्रह पर रोक लगा दी थी। यह दंगा उस दिन फैला था, जिस दिन प्रिंस ऑफ वेल्स भारत पहुँचे थे। उसी वर्ष दिसंबर 1921 में कांग्रेस के 36 वें अधिवेशन में सत्याग्रह आंदोलन को दोबारा शुरू करने का निर्णय लिया गया। इस पर रवींद्रनाथ को अचंभा हुआ था। उनके मन में डर था कि फिर से दंगे शुरू हो जाएँगे। फरवरी 1922 को एक प्रसिद्ध गुजराती लेखक कवि नानालाल दलपत राम को खुली चिट्ठी लिख कर कहा- *''मैं साधक रूप में अहिंसा की क्षमता में विश्वास करता हूँ जिसके सहारे एकत्रित समूची शारीरिक शक्ति का विरोध किया जा सकता है, जिस पर विश्व के सारे देशों की शक्ति आधारित रहती है, परंतु सारे नैतिक आदर्शों के अनुरूप अहिंसा को मन की गहराई से प्रस्फुटित होना है और उसको एक अत्यधिक आवश्यक तत्व कहते हुए अपील के द्वारा दूसरों पर थोपा नहीं जा सकता।*

यह चिट्ठी 3 फरवरी 1922 को प्रकाशित हुई। 4 फरवरी को क्रुद्ध जनता के द्वारा चौरी-चौरा (गोरखपुर) में 21 भारतीय पुलिसकर्मियों और एक चौकीदारी की हत्या कर दी गई। गांधीजी ने इसी कांड को 'The bitterest humiliation and a Hinmalayan miscalculation' नाम दिया था। 12 फरवरी को कांग्रेस समिति की बैठक में चरखा तथा समाज-सुधार और ग्राम पुनर्निर्माण के रचनात्मक कार्यक्रम की योजना बनाई गई।

यह कांड घटित होने के लगभग 6 साल पहले 1916 में 'घर और बाहर' नाम से टैगोर ने एक उपन्यास लिखा था, जिसमें देशभक्ति और मानवतावाद की विचारधारा के बारे में कविगुरु के स्पष्ट वक्तव्य हैं। उपन्यास के मूल दो चरित्रों संदीप और निखिल में से एक, निखिल कहता है-जब भी आप अन्याय को कर्तव्य के रूप में आँकते हैं और अनैतिकता को नैतिक आदर्शों की तरह तब मेरे मन को गहरा धक्का पहुँचता है।

जैसा पहले कह चुका हूँ, टैगोर और गांधी के बीच का विरोध अपरिहार्य था। अपरिहार्य कहता रहा हूँ परंतु मेरे लिए यह एक पहेली है, क्योंकि वस्तुस्थिति दोनों के बीच के घोर विरोध के साथ उनके बीच की समान चिंता धारा को भी उजागर करती है।

बीसवीं सदी के भारत की इन दो महान विभूतियों की विचारधारा में समानता और वैषम्य का जो इतिहास भारतीय रंगभूमि में उद्घाटित हुआ था, वह हमारे मन की पहेली को सुलझाने के स्थान पर और भी अधिक जटिल बना डालता है। कदाचित इसीलिए इन दोनों के बीच की एकता और विभेद हमारे लिए एक अबूझ पहेली होते हुए भी इतने आकर्षक हैं कि हमें यह भूलने से काम नहीं चलेगा कि दोनों ही आध्यात्मिक सहयोगी के समान भारतीय

जनता को पुनर्जीवित करने के समान उद्देश्य को लेकर चले थे।

रोमाँ रोलाँ इन दो व्यक्तियों के अंतर से मंत्रमुग्ध थे। गांधी पर लिखी उनकी पुस्तक समाप्त होने के बाद मार्च 1923 में एक भारतीय शिक्षाविद को लिखा था- ''मैंने गांधी पर पुस्तक समाप्त की है, उसमें मैंने आप लोगों की दो नदी सदृश्य आत्माओं टैगोर और गांधी को अपनी श्रद्धा अर्पित की है। मुझे इन दोनों में परमात्मा की दिव्यता का निरंतर प्रवाह दिखाई पड़ता है।''

अप्रैल 1923 में रोमाँ रोलाँ ने अपनी डायरी में अंग्रेज़ पादरी तथा पब्लिक एक्टिविस्ट सी.एफ. एंड्रयूज़ के द्वारा लिखे गए, इन दो व्यक्तियों के बीच के अंतर को रिकॉर्ड किया था। सी.एफ. एंड्रयूज़ इन दो व्यक्तियों के काफी नज़दीकी मित्र थे। एंड्रयूज़ की उपस्थिति में उन्होंने टैगोर और गांधी के बीच नाना विषयों को लेकर हुए वार्तालापों में जो अंतर उभरकर सामने आया उसका हवाला देते हुए जो कहा था उसमें पहला था मूर्तिपूजा, गांधी इसके पक्ष में थे। उनका कहना था कि अमूर्त विचार को समझना आम जनता के लिए कठिन है। टैगोर के लिए असहनीय था कि मनुष्यों के साथ चिरंतन काल से बच्चों की तरह बर्ताव किया जाए।

गांधी के द्वारा झंडे को मूर्ति रूप में स्वीकार करते हुए यूरोप में क्या कुछ बड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त नहीं की, इसका हवाला देने पर टैगोर ने उसका विरोध किया परंतु गांधी अपनी बात पर अड़े रहे।

दूसरा मुद्दा राष्ट्रवाद था-गांधी राष्ट्रवाद के पक्षधर थे, उनका कहना था Nationalism के रास्ते आप International तक पहुँच सकते हैं, बिल्कुल उसी तरह युद्ध के बीच से गुज़र कर ही शांति तक पहुँचा जा सकता है।

टैगोर राष्ट्रवाद के पक्ष में नहीं थे क्योंकि उनकी सोच थी कि इससे हिंसा का प्रसार होता है इसलिए nation-state से जुड़ा राष्ट्रवाद उनके लिए अनुचित (illegitimate) बन गया। गांधी ने राष्ट्रवाद के विचार का त्याग नहीं किया। अपनी राष्ट्रवाद की धारणा में उन्होंने राष्ट्रवाद की आलोचना (Critic of nationalism) को जोड़ दिया।

समय की गति के साथ दोनों के लिए अंतत: भारतीय स्वाधीनता संग्राम मात्र राष्ट्रीय दृढ़ीकरण की अभिव्यक्ति नहीं रहा और वह आंदोलन राजनीतिक न्याय और सांस्कृतिक मर्यादा की प्राप्ति के लिए वैश्विक संघर्ष का प्रतीक बन गया। आंदोलन ने निर्वैयक्तिक, आलोचनात्मक भारतीय राष्ट्रवाद Unse self-ceritical national का रूप धारण कर लिया, जो मूलत: पश्चिम साम्राज्यवाद के प्रति इन दो व्यक्तियों का जवाब था। इन विभेदों में, मेरा मानना है, एक सुसंगत पैटर्न दिखाई पड़ता है। टैगोर तर्क-बुद्धि, विवेक को अधिक महत्व देते हैं और उसके लिए अधिक स्थान चाहते हैं परिणामत: पारंपरिक दृष्टि को कम स्थान देना चाहते हैं। दूसरी दुनिया के साथ संपर्क का विस्तार चाहते हैं और विज्ञान तथा विषयनिष्ठता को अधिक महत्व देना चाहते हैं।

महात्मा गांधी के कलेक्टेड वर्क्स में संकलित असहयोग आंदोलन के विरुद्ध उनके द्वारा लिखे गए पत्र का हवाला देकर रवींद्र और गांधी के बीच के अंतर को प्रकट किया जाता है। जिसमें रवींद्र ने असहयोग आंदोलन की निंदा करते हुए लिखा है

1. यह मात्र तपश्चर्या है। 2. डरावनेपन का रहस्यानुष्ठान है जो निरर्थक तबाही पर नि:स्पृह, नि:स्वार्थ आनंद प्राप्ति है। 3. यह एक ऐसा संघर्ष है जिसमें दिल और मन से हम पश्चिम के विरुद्ध हो जाएँ, के संकेत हैं। 4. यह एक आध्यात्मिक आत्महत्या है।

ये सारे अंतर के मुद्दे लगातार उद्धृत हुए किए जाते हैं जिससे कि उनके बीच भारत के उज्ज्वल भविष्य के लिए चुने गए रास्ते को लेकर मूल असहमति को प्रकट किया जा सके। गांधी के एजेंडा के दूसरे केंद्रीय मुद्दों के प्रति भी टैगोर के मन में काफी संदेह था। मूलत: गांधी के आदेश के प्रति। उनका प्रबल संदेह था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी दिनचर्या के एक हिस्से के रूप में चरखा कातने का काम करेगा।

टैगोर के लिए यह समझ के बाहर था कि कोई व्यक्ति जो दूसरे कामों के लिए उपयुक्त है, वह क्यों चरखा कातेगा और फिर चरखा के चाक को घुमाने के साथ-साथ कोई नई विचारधारा की उत्पत्ति नहीं होती-वह एक उबाऊ काम है। रवींद्रनाथ जानते थे कि वे भारत को राजनीतिक नेतृत्व नहीं दे सकते जो गांधी जी ने दिया था और गांधी जी ने जो देश को दिया था उसकी प्रशंसा करते थकते नहीं थे।

टैगोर ने गांधी को महात्मा की उपाधि दी थी, फिर भी दोनों एक दूसरे के प्रति कई मुद्दों पर काफी आलोचनात्मक रुख़ रखते थे। दोनों ने ही दो अलग-अलग स्वप्रतिमाओं self-image की प्रतिष्ठा की थी। एक तरफ लंगोट पहने हुए तपस्वी योगी दूसरी तरफ़ ईश्वरीय सौंदर्ययुक्त कवि। गांधी का मूल उद्देश्य नैतिक यूटोपिया की स्थापना थी, तो टैगोर जीवन के नाना वैभवों के अनुष्ठाता थे। एंड्रयूज़, रॉबिन्सन तथा कृष्ण दत्त का कहना है कि एक तपस्वी तो दूसरा सौंदर्य उपासक। एक उपयोगितावादी व्यावहारिक तो दूसरा कलाकार। एक कर्मठ तो दूसरा चिंतक व्यक्तिवादी। एक राजनयिक तो दूसरा विशिष्टवर्गीय। एक narrow-read दूसरा widely read. एक पारंपरिक तो दूसरा आधुनिक। एक विज्ञान विरोधी तो दूसरा विज्ञान विश्वासी। एक भारत भक्त तो दूसरा पूर्व पश्चिम के समन्वय का पक्षधर। एक घर में बैठने वाला तो दूसरा विश्वयात्री। एक बांग्ला तो दूसरा गुजराती। एक ब्राह्मण तो दूसरा व्यापारी वैश्य। एक दाढ़ी-बाल वाला सुंदर वस्त्रधारक तो दूसरा खद्दर लंगोटधारी गंजे सिरवाला। वस्तुत: इस तरह के चिंतन तथा विशिष्ट विश्व दृष्टि के अंतर के अतिवादी वर्णन के कारण उनके बीच की एकता के प्रति हमारे ध्यान का बँट जाना स्वाभाविक है।

हमें मालूम है कि जब गांधी ने ट्रांसवाल में अपने फ़ीनिक्स स्कूल को बंद कर दिया तो उन्होंने अपने 20 विद्यार्थियों को गुरुकुल, हरिद्वार में भेज दिया था। एंड्रयूज़ से इसकी ख़बर मिलते ही टैगोर ने एंड्रयूज़ से विद्यार्थियों को शांतिनिकेतन भेजने को कहा। जब ये छात्र शांतिनिकेतन पहुँच गए तो टैगोर ने अपना सबसे पहला पत्र गांधी को लिखा-*जब आपने अपने फ़ीनिक्स के छात्रों को उनके भारत-प्रवास काल में मेरे विद्यालय में भेजने का निर्णय लिया तो मुझे यह वास्तविक प्रीतिकर लगा और यह प्रीति इन बच्चों को देखने के बाद और भी अधिक बढ़ गई। मुझे आशा है कि इन छात्रों का मूल्यवान प्रभाव मेरे छात्रों पर पड़ेगा और इसी तरह*

यह छात्र हमारे छात्रों से लाभान्वित होंगे जिससे कि शांतिनिकेतन में उनका रहना लाभदायक सिद्ध होगा। मैं यह पत्र आपको धन्यवाद देने के लिए लिख रहा हूँ कि आपने अपने बच्चों को हमारे बच्चे बनने की अनुमति दी और इस तरह हमारे जीवन की साधना में एक जीवंत संबंधों की स्थापना की।

यह पत्र अपने आप में इन दोनों के बीच के संबंधों का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है। हम यह मानकर चलेंगे कि यह पत्र टैगोर जिस समय लिख रहे थे उस समय तक गांधी के साउथ अफ्रीका में ब्लैक एक्ट ऑफ ट्रांसवाल के विरुद्ध आंदोलन और बोअर वॉर में इंडियन एंबुलेंस कॉर्प के सदस्य और ज़ूलू विद्रोह में सार्जेंट मेजर के रूप में काम का पता टैगोर को लग चुका था। टैगोर ने तब तक निश्चय ही गांधी के हिंद स्वराज को पढ़ लिया होगा। साथ ही इसमें काफी संदेह है कि उस समय तक गांधी को टैगोर के बारे में इतना पता लगा होगा। उनके कठिन राजनीतिक जीवन में ठोस साहित्य अध्ययन के लिए समय कम मिलता होगा। हो सकता है कि उन्होंने अंग्रेज़ी गीतांजलि का अध्ययन किया हो जिसके लिए टैगोर को 1913 में नोबेल पुरस्कार मिला था। परंतु यह निश्चित ढंग से एक अभिलिखित दस्तावेज़ के आधार पर कहा जा सकता है कि गांधी ने टैगोर का सबसे पहला उल्लेख 18 फरवरी 1914 को गोपाल कृष्ण गोखले को भेजे गए एक तार में किया था जिसमें कैपटाउन में टैगोर पर दिए गए सी.एफ. एंड्रयूज़ के भाषण का हवाला देते हुए कहा गया था कि कैपटाउन में उच्च भारतीय जीवन तथा विचारधारा का गहरा स्वागत होता है जिसका प्रतिनिधित्व टैगोर करते हैं। उस दिन गोपाल कृष्ण गोखले को भेजे गए एक और तार में गांधी ने एंड्रयूज़ के द्वारा दिए गए भाषण के बाद गवर्नर जनरल की टिप्पणी का उल्लेख करते हुए लिखा था कि गवर्नर जनरल के अनुसार टैगोर का व्यक्तित्व भारतीय कल्पना से संबद्ध राष्ट्रीय जीवन की गहरी अभिव्यक्ति है।

27 मार्च 1914, नटाल से गांधी ने महात्मा मुंशीराम को लिखे गए पत्र में मुंशीराम, सेंट स्टीफ़ेंस के प्रिंसिपल रुद्र तथा टैगोर के प्रति एंड्रयूज़ के आभार का उल्लेख किया था। 8 अगस्त 1914 को लंदन में आयोजित एक समारोह में गांधी ने एंड्रयूज़ के गुरु टैगोर का उल्लेख करते हुए कहा कि मुझे एंड्रयूज़ से The poet saint of Bolpur के बारे में जानने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

इस समय तक गांधी की टैगोर की रचनाओं में रुचि पैदा हो गई थी क्योंकि प्रथम महायुद्ध के दौरान इंडियन एंबुलेंस कॉर्प्स के डॉक्टर जेम्स जेंटले को उन्होंने टैगोर के साहित्य का एक सेट भेंट में दिया था। यह उन्होंने 1 अक्टूबर 1914 को आयोजित एक आम सभा की अध्यक्षता करते हुए किया था, जिसमें आगा खाँ, कस्तूरबा, सरोजिनी नायडू, अमीर अली का तथा कॅलेनबाख मौजूद थे। मगनलाल गांधी को 4 दिसंबर 1914 को लिखे गए एक पत्र में गांधी ने लिखा था: 'Out of respect for Gurudev and by way of inducement to you all, I have started study of of Bengali in my bed.'

मगर टैगोर आध्यात्मिक दृष्टि से गांधी के साथ 1915 में लिखे गए उनके पहले पत्र के बहुत पहले से जुड़ गए थे।

1. जब गांधी ट्रांसवाल के ब्लैक एक्ट के विरुद्ध 1906 में सत्याग्रह कर रहे थे तब टैगोर कलकत्ते में 1905 के बंगाल विभाजन के विरोध में शुरू आंदोलन में हिस्सा ले रहे नौजवानों व बच्चों के लिए गीत और भाषण लिख रहे थे, जो सड़कों पर लंकाशायर में तैयार वस्त्रों को जलाकर होली खेल रहे थे।

2. दोनों एक दुखद उपनिवेशवादी परिस्थिति में जनता के सम्मान को अक्षुण्ण रखने के काम में व्यस्त थे। एक लीडर और प्रवर्तक था, दूसरा कवि और चिंतक था।

3. जब गांधी ने ट्रांसवाल में उनके राजनीतिक सहयोगियों के अतिवाद का विरोध किया था तब टैगोर ने भारत में विदेशी आंदोलन से संबद्ध हिंसा का विरोध किया था। गांधी की उनके क्लाइंट अमीर आलम ने पिटाई की थी, जब गांधी स्मट्स से सहयोग करने के लिए तैयार हो गए थे और टैगोर का बंगाल में बड़ी संख्या में लोगों ने विरोध किया था तब उन्होंने राजनीति में नियंत्रण की माँग की थी।

4. दोनों ही नैतिक पुनरुत्थान के पक्षधर थे और उसी के आधार पर राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति की संभावना को स्वीकारते थे।

दोनों ने विद्यालयों की स्थापना की, जिससे कि नवयुवकों के लिए विकसित होते हुए समाज के नए कार्यों में सही भागीदारी संभव हो सके।

मगर दोनों के बीच जो चौंकाने वाला सादृश्य है, वह यह कि गांधी ने 1909 में हिंद स्वराज की रचना की तो टैगोर ने भी उसी वर्ष 'प्रायश्चित' नाम से एक नाटक लिखा जिसमें गांधी के अहिंसात्मक नागरिक सविनय अवज्ञा तथा 'नो टैक्स' अभियान का पूर्वाभास मिलता है। उनके उपन्यास 'बहू ठाकुरानी का हाट' (1883) का यह नाट्यकरण था। मगर स्वदेशी आंदोलन के असंयम अतिरेक के प्रति टैगोर की प्रतिक्रिया के संदर्भ में इसकी राजनीतिक तथा नैतिक विषय वस्तु का गहरा महत्व है। कवि के अपने विचारों के प्रवक्ता के रूप में निर्मित नाटक का एक पात्र धनंजय बैरागी मूलत: गांधी का प्रतिनिधि है जो एक भिक्षुक है, मगर साथ ही एक लोकप्रिय नेता जो टैक्स (महसूल) देने का विरोध करता है और लोगों को टैक्स देने से रोकता है क्योंकि उसके अनुसार भूखी प्रजा से टैक्स की उगाही का राजा को कोई अधिकार नहीं है। वह एक अहिंसात्मक सज्जन भद्र विद्रोही है जो अनुचित कानून का अपने साहसपूर्ण अवज्ञा के द्वारा विरोध करता है और आशा करता है कि अत्याचारी तानाशाह के हृदय को बदला जा सकेगा। यह नाटक अपने निंदकों के प्रति टैगोर का उत्तर था जो यह मानते थे कि स्वदेशी आंदोलन के संयमित अतिरेक का टैगोर के द्वारा खंडन, एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कार्य का दुर्भाग्यपूर्ण खंडन है। यह नाटक 1909 के प्रारंभ में प्रकाशित हुआ जो कि 1908 में किसी समय लिखा गया था और हिंद स्वराज्य 1909 के अंत में लिखा गया था। परंतु हम यह अनुमान कर सकते हैं कि दक्षिण अफ्रीका में गांधी की गतिविधियों से टैगोर परिचित थे। नैतिक प्रेरणा के आधार पर लिखे गए इस नाटक में धनंजय बैरागी की नैतिक प्रकृति और एक तानाशाही शासन के विरुद्ध एक लोकप्रिय आंदोलन का दर्शन गांधी के सत्याग्रह की भावना के अनुकूल था। गांधी ने

इंडियन ओपिनियन में एक लेख 'Who can offer satyagraha.' जो मई 1909 में गुजराती में लिखा था 'The first thing necessary for a satyagrahi, is pursuit of truth, faith in truth.'

टैगोर की यही धारणा थी कि इस सत्य का जन आंदोलन में कहीं अधिक वास्तविक महत्व है। राजनीतिक शोर-शराबा या राजनीतिक आंदोलन की अपेक्षा धनंजय बैरागी जन आंदोलन में आवश्यक इस नैतिक बल की प्रतिमूर्ति है। धनंजय बैरागी सविनय अवज्ञा की अवधारणा के अग्रदूत के समान हमारे सामने उपस्थित होते हैं जो आंदोलन 20वीं सदी में बहुत ही द्रुत गति से देश में प्रसारित हुआ था।

बाद में टैगोर ने संरचना तथा शैली की दृष्टि से प्रायश्चित से कहीं अधिक महत्वपूर्ण नाटक 'मुक्त धारा' (1922) की रचना की जिसमें गांधीवादी आदर्शों के प्रति टैगोर ने बहुत ही तात्पर्य पूर्ण अभिव्यक्ति की, जो अहिंसात्मक आंदोलन की अभिव्यक्ति थी।

'प्रायश्चित' के धनंजय बैरागी से कहीं अधिक शक्तिशाली पात्र इस नाटक का धनंजय बैरागी है। वह यहाँ वही बात कहता है, जो गांधी का वक्तव्य रहा है। जब उसका एक अनुगामी गणेश कहता है कि वह जानता है कि, प्रतिपक्ष विरोधी की कैसे पिटाई की जाती है तो धनंजय non-beating की अधिक शक्ति का उसे अहसास कराता है:

धनंजय: आघात नहीं करना, किसे कहते हैं वह दिखा नहीं सकता। उसमें ताक़त ज़्यादा लगती है क्या? लहरों को थपेड़ा मारने से लहरें रुकती नहीं, पतवार को स्थिर पकड़े रहने से लहरों पर विजय पाई जा सकती है।

गणेश: तो फिर क्या करने को कहते हैं

धनंजय: आघात को ही जड़ से काटो हिंसा पर विजय पाओ।

गणेश: यह कैसे संभव है प्रभु!

धनंजय: सिर ऊँचा करके जैसे ही कह पाओगे कि आघात का मेरे पर कोई असर नहीं तभी आधार की जड़ कट जाएगी।

गणेश: आघात करने पर आघात नहीं लग रहा है, कहना कठिन है।

धनंजय: जो असली मनुष्य है उसे आघात नहीं लगता क्योंकि वह स्वयं आलोक शिखा है, जानवर तो मांस पिंड है, उसे आघात लगता है और वह रिरियाता-चीखता है।

प्रश्न तब यह है कि टैगोर ने अहिंसात्मक आंदोलन का विरोध क्यों किया, जब वे स्वयं इसके गंभीर व्याख्याता थे। इसका एक उत्तर नाटक में ही मिल जाता है, जब धनंजय अहिंसा के आदर्श की व्याख्या करता है और यह अनुभव करता है कि उसके श्रोता उसे समझ नहीं पा रहे। तब धनंजय कहता है।

धनंजय: अवाक होकर क्यों खड़ा है, मेरी बात समझ नहीं पा रहा है।

गणेश: हम तो तुम्हें ही समझते हैं। तुम्हारी बात भले ही ना समझ में आए।

धनंजय: तब तो सर्वनाश हो जाएगा।

गणेश: बात समझने में समय लगता है और समय भी जाता है, हम तुम्हें समझ चुके हैं और उसी से हम जल्दी ही तर जाएँगे।

धनंजय: जल्दी ही। क्या कहते हो, जब शाम को किनारे पर आकर तुम्हारी नाव डूबने को होगी, तब यदि मेरी बात को अपनी बात मान कर अपना नहीं लोगे तो तुम डूबेगे ही।

गणेश: यह बात नहीं कहो, प्रभु! हमने तुम्हारे चरणों में शरण ली है तो निश्चय ही हम किसी ना किसी तरीक़े से तुम्हें समझ चुके हैं।

धनंजय: तुम मुझे समझ नहीं पाए हो यह मेरे लिए स्पष्ट है। तुम्हारी आँखें लाल हैं, तुम्हारे होठों पर कोई गीत नहीं-डरपोक या तो तुम मार खाने के डर से भागते हो या फिर मार से बचने के लिए भागते हो! यह दोनों एक ही चीज़ है-जो भी तुम करते हो उससे तुम पशुओं के समूह के अनुगामी बन जाते हो, पशुपति से तुम्हारा कभी मिलन नहीं होता।'

'मास्टर का सब सम्मान करते हैं, परंतु उसके अनुगामी उसे समझते नहीं हैं, जिनकी आँखें अभी भी लाल हैं जो मेषों के समूह का अनुगमन करते हैं परंतु मेषपाल का नहीं।'

टैगोर की अहिंसा की विचारधारा का यह सार है जिसको लोकप्रिय आंदोलन का आधार माना है। यह याद रखना आवश्यक है कि यह नाटक टैगोर-गांधी की चौथी बैठक सितंबर 1921 के बाद लिखा गया था। जब गांधी, टैगोर के मन परिवर्तन के लिए उनसे मिलने आए थे। दोनों के बीच क्या बात हुई इसका कोई रिकॉर्ड नहीं है। दोनों में फ़ासला बना रहा परंतु दोनों के बीच की असहमति का उनके बीच के गहरे प्रेम संबंधों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

4 दिसंबर 1922 को टैगोर साबरमती आश्रम में आए थे, जब गांधी जेल में थे। जो संक्षिप्त भाषण उन्होंने वहाँ दिया था, वह 21 दिसंबर 1922 के यंग इंडिया में प्रकाशित हुआ।

टैगोर ने गांधी के प्रति गहरे सम्मान भाव को प्रकट करते हुए भी असहयोग आंदोलन को अपव्ययपूर्ण तथा ख़तरनाक कहा।

टैगोर, गांधी के साथ उनके मतभेदों को लेकर काफी दुखी थे, परंतु जब गांधी के प्रति उनका व्यक्तिगत सम्मान भाव सबसे अधिक गहरा था, तब तब भी चरखा और असहयोग आंदोलन के विरुद्ध उनकी विचारधारा को बदल नहीं पाए। सितंबर 1925 में चरखा के बारे में मॉडर्न रिव्यू में उन्होंने लिखा था- *'यह मेरे लिए बहुत ही अशोभनीय है कि मैं महात्मा गांधी से किसी सिद्धांत या पद्धति को लेकर असहमति प्रकट करूँ। ऐसी बात नहीं कि किसी उच्च दृष्टिकोण से ऐसा करना कोई ग़लत काम है परंतु ऐसा करने से मेरा मन बैठ जाता है क्योंकि इससे बढ़कर क्या बात हो सकती है कि मैं किसी ऐसे व्यक्ति के साथ कार्यक्षेत्र में हाथ मिलाऊँ जिसके लिए मेरे मन में इतना प्रेम और सम्मान भाव है। मेरे लिए महात्मा गांधी के बृहद नैतिक चरित्र से बढ़कर चौकाने वाला और कुछ नहीं है। परमात्मा के विधान ने ऐसे व्यक्ति के द्वारा हमें शक्ति का जलता हुआ वज्र प्रदान किया है। मेरी प्रार्थना है कि यह शक्ति भारत को बल प्रदान कर-उसे अभिभूत ना करे।'*

टैगोर के द्वारा चरखे की आलोचना करने पर उत्तर में गांधी ने यंग इंडिया के 5नवंबर 1925 के अंत में लंबा लेख लिखा। चरखे को लेकर जो विवाद शुरू हुआ था उसमें सर पी.सी. रॉय गांधी के पक्ष में थे और और सर बी.एन. सील टैगोर

का समर्थन कर रहे थे।

गांधी ने कहा था कि कवि के मन में चरखे को लेकर ग़लतफ़हमी है।

गांधी ने तब स्पष्ट किया था कि उनका यह उद्देश्य नहीं था कि कवि अपने गीतों को त्याग दें, किसान हल को या वकील अपनी वकालत या डॉक्टर अपने औज़ारों को। मैंने तो भूखी जनता से यह कहा था कि काम के अभाव में चरखा कात कर अपनी जीविका को चलाया जा सकता है और अधभूखे किसान खाली समय में चरखा कात कर अपनी छोटी कमाई में कुछ भरपाई कर सकता है। उसके बाद बहुत ही संजीदगी के साथ कहा था कि यदि कभी आधा घंटे चरखा कातेंगे तो उनकी कविता और भी अधिक संपन्न हो जाएगी।

(शांति निकेतन की अंतिम यात्रा सन 1940 में गांधी ने एक बार टैगोर को चरखा कातने के लिए कहा था तो टैगोर ने कहा था कि आप एक कविता लिखें मैं चरखा कातूँगा।) गांधी को जब किसी विदेशी पत्रकार ने 5 शब्दों में जीवन के रहस्य को समझाने के लिए कहा तब गांधी ने कहा था-पाँच क्यों मैं तीन शब्दों में समझा दूँगा- renounce and rejoyice. (तेन त्येक्तेन भुंजिथा) टैगोर उसे दूसरे ढंग से कहते हैं rejoyice and renounce.

गांधी की तरह टैगोर भी उपनिषदों से बहुत प्रभावित थे और यह ईशोपनिषद का प्रथम श्लोक है:

All that is changing in this changeful world. Know that is enveloped by him who is the lord of all things. Therefore take your enjoyment in erenunciation. Never covet wealth.

परंतु गांधी ने इसका अनुवाद दूसरे ढंग से किया- This whole world is the garment of the Lord. Renounce it then and enjoy it, receiving it back as the gift of god. एम. स्लेव (Madeleine Slave) के अनुसार महात्मा गांधी तपस्या के पैगंबर और टैगोर आनंद के पैगंबर थे। गांधी और टैगोर इसके सात वर्षों बाद एक दूसरे के काफी नज़दीक आ गए थे। जब गांधी Communual Award of Ramsay Macdonald के विरोध में आमरण अनशन करने के लिए बैठ गए थे। गांधी ने 20 सितंबर 1932 से जेल में ही अनशन करना निश्चय कर लिया था।

कवि बहुत ही विचलित हुए थे और गांधी को लेकर उनकी उत्कंठा इतनी अधिक हो गई थी कि उन्होंने इस संगीन परिस्थिति पर चिंता और विमर्श के लिए अपने सारे कार्यक्रम रद्द कर दिए थे। 24 सितंबर को टैगोर पूना के लिए रवाना हुए और गांधी की अवस्था को लेकर चिंता व्यक्त करते हुए मैकडॉनल्ड को तार भेजा। 26 सितंबर को, जब टैगोर पूना पहुँचे, तब Communal Award को लेकर समझौते की खबर गांधी को मिल गई थी। टैगोर ने जेल में पहुँचकर गांधी के अनशन भंग के समय वह गाना स्वयं गाया था:

'जीवन जखन सुकाए जाए, करुणा धाराय एसो।'

(जीवन जब सूख जाए, तुम करुणा की धार बन कर आना)

उस समय राजगोपालचारी, राजेंद्र प्रसाद, हृदयनाथ

कुंजरू, वल्लभभाई पटेल, सरोजिनी नायडू, कमला नेहरू आदि वहाँ उपस्थित थे। दूसरे दिन शिवाजी मंदिर में आयोजित एक सभा में गांधी के प्रति टैगोर के भाषण को गोविंद मालवीय ने पढ़कर सुनाया। एक वर्णों बहुधा शक्ति योगात् वर्णान एनेकेन निहितार्थो दधाति विच्याति चन्ते विश्वमदान सदैव: सन बुध्या शुमया समयुनक्ता श्वेताश्वर बहुदा शक्तियों का वर्णन अनेक एक निहितार्थ ददाति विच अति चंदे विश्वा मदान सदैव सन बुधिया सुमैया समय उन अब तो श्वेता-श्वेता।

वह जो एक है और जो हर एक की आवश्यक ज़रूरतों की पूर्ति करता है, जो सब पदार्थों का प्रारंभ और अंत है, वह सत्य के साथ हमें जोड़ता है और जो उचित है उसके साथ हर एक को संबद्ध करता है।

हम प्रतिज्ञा करते हैं-1. जाति और वर्ग के अनुसार किसी को छोटा नहीं समझेंगे। 2. मंदिर कुआँ, सामाजिक अनुष्ठानों में हर एक की भागीदारी होगी। 3. छुआछूत का हर तरह से बहिष्कार किया जाएगा। 4. हम ऐसे किसी कार्य को सहन नहीं करेंगे जो दूसरों की चिंताधारा को आघात पहुँचाएगा।

इस मौके पर गांधी पर टैगोर की रचनाओं का एक संकलन 'Mahatmaji and the depressed humanity' का लोकार्पण हुआ। यह पुस्तक सर पी.सी. रॉय को समर्पित की गई थी। परंतु जो व्यक्ति सत्य को सब तरह के तर्क, सोच-विचार, चिंतन के ऊपर स्थान देता है उसके लिए व्यक्तिगत सुख की कोई गुंजाइश नहीं होती। हमारे पौराणिक इतिहास में ऐसा एक व्यक्ति था श्री रामचंद्र। दोनों के बीच फरवरी 1934 में फिर एक विवाद छिड़ गया। 15 फरवरी को बिहार में भयानक भूकंप आया था उसके बारे में गांधी ने कहा था, कि छुआछूत के पाप का ईश्वर के द्वारा दिया गया यह दंड विधान है।

कवि यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे और उन्होंने तत्काल गांधी को एक पत्र दिया जो 16 फरवरी 1924 के हरिजन में प्रकाशित हुआ। उन्होंने लिखा था देशवासियों के मन से डर और दुर्बलता को ख़त्म कर मुक्ति दिलाने के कारण हम महात्मा गांधी के प्रति चिर कृतज्ञ हैं परंतु हमें जब गहरा दुख पहुँचता है जब उनके मुँह से निकले शब्द युक्तहीनता को महत्व देते हुए उन्हीं देशवासियों के मन को प्रभावित करते हैं-युक्ति-हीनता उन सब अंधशक्तियों का मूलभूत आधार है जो हमें स्वाधीनता और आत्मसम्मान को खोने के लिए मजबूर कर रही है।

गांधी का उत्तर पत्रिका के उसी अंक में प्रकाशित हुआ जो एक पवित्र आत्मा के द्वारा लिखे गए एक गद्य गीत की तरह था- *मेरे लिए ब्रह्मांडीय प्राकृतिक घटनाएँ एवं मानव व्यवहार एक जीवंत आस्था है जो मुझे ईश्वर के निकट ले जाता है। मुझे विनीत करता है। उस परमपिता के सम्मुख होने के लिए तैयार करता है। इस तरह का विश्वास मेरे लिए अपमानजनक अंधविश्वास में परिणत हो जाएगा, यदि अज्ञानता वश भी मैं इस संस्था को मेरे विपक्षियों को तिरस्कृत करने के लिए इस्तेमाल करूँ।* मुझे ऐसा लगता है जैसा कि आशीष नंदी कहते हैं कि-गांधी अपने वक्तव्यों द्वारा सामूहिक दायित्व को परिभाषित कर रहे थे और यह कोई

अनहोनी संकल्पना नहीं थी। प्रेसिडेंट क्लिंटन ने अमेरिका के द्वारा दास प्रथा के पाप के लिए माफ़ी माँगी थी। हालाँकि उन्होंने कभी भी इस प्रथा को स्वीकार नहीं किया था, ना ही आज का व्हाइट अमेरिका इसे स्वीकार करता है। परंतु फिर भी उन्होंने माफ़ी माँगी क्योंकि आज का अमेरिका उस संस्कृति का उत्तराधिकारी है जिसके अंतर्गत यह प्रथा प्रचलित थी। गांधी इतने विवेकशील और बुद्धिमान थे कि इस तर्क के औचित्य को समझ सके। रामचंद्र गांधी साइमन वेल के कर्म सिद्धांत के सामूहिकतावादी (Collectivize) सिद्धांत से गांधी के बिहार भूकंप से संबंधित वक्तव्य को स्पष्ट करते हैं और इस तरह गांधी-टैगोर के बीच के डिबेट को अंधविश्वास बनाम तर्कसंगत परंपरा के अंधकार बनाम आधुनिकता के ज्ञानोदय जैसी सरलीकृत व्याख्या को ध्वस्त करते हैं।

कदाचित इस तरह की सरल और गंभीर धर्मनिष्ठातापूर्ण अभिव्यक्ति का कोई उत्तर नहीं था। इसमें हिब्रू भक्ति गीत की शांति है और एक चीज़ कम से कम इस बार गांधी-टैगोर से अधिक काव्यमय प्रतीत होती है। गांधी की इस विचार दृष्टि का विरोध करने पर भी लोगों की कटु आलोचना से क्षुब्ध टैगोर ने गांधी का पक्ष लेते हुए अपना वक्तव्य जारी किया: 'To one really great, the real adulation as well as the cheap sneers of the mob mean very little and I know Mahatma Ji carries that greatness with him.'

गांधी जब अंतिम दफा 17 फरवरी 1940 में शांतिनिकेतन पहुँचे थे तब वह दो सगोत्रीय आत्माओं का मिलन था। गांधी ने हरिजन के 2 मार्च 1940 के अंक में इस यात्रा के बारे में बहुत ही आवेगपूर्ण ढंग से लिखा। इससे पहले उसी वर्ष 19 फरवरी को टैगोर ने गांधी को एक पत्र में लिखा था- 'विश्वभारती एक जहाज़ की तरह है जिसमें मेरे जीवन का सर्वाधिक मूल्यवान खज़ाना लदा हुआ है उसकी रक्षा करें।'

उत्तर में गांधी ने लिखा, 'यद्यपि मैंने हमेशा शांतिनिकेतन को अपना दूसरा घर माना है परंतु इस बार की यात्रा ने मुझे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक नज़दीक ला उपस्थित किया है।' जब 7 अगस्त, 1941 को टैगोर की मृत्यु हुई तब अपने शोक संदेश में गांधी ने लिखा- 'ऐसी कोई सार्वजनिक घटना शायद ही घटी होगी, जिस पर उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व का प्रभाव नहीं पड़ा हो।' यह स्पष्ट है कि गांधी यह सोचते थे कि उनके सार्वजनिक कार्यों पर टैगोर के व्यक्तित्व का भी प्रभाव था। टैगोर के द्वारा सार्वजनिक वक्तव्य तथा निबंधों में गांधी के प्रति उनके श्रद्धा भाव की अभिव्यक्ति सर्वविदित है और इसी तरह गांधी के द्वारा दी गई प्रशस्तियाँ सांप्रतिक भारतीय इतिहास के अंग हैं परंतु कदाचित हमें अभी तक इसका संज्ञान नहीं है कि इन दो व्यक्तियों की अत्यधिक लोकप्रियता के बावजूद दोनों बहुत ही नि:संग थे। यद्यपि दोनों में सिद्धांतों को लेकर कई विवाद हुए क्योंकि दोनों ही के लिए सब चीज़ों के ऊपर सत्य का स्थान था और इस दृष्टि से दोनों अभिन्न थे।

गांधी कवि को गुरुदेव कहते थे और टैगोर ने अपनी मृत्यु के छह महीने पहले गांधी को लेकर एकमात्र कविता लिखी और उसका शीर्षक रखा-

'गांधी महाराज'। इस कविता में रवींद्र अपने को उन लोगों के साथ एक मानते हैं जिनके ललाट पर गांधी का परिचय चिह्न अंकित है- *'चिरकालेर हातकडि ये धुलाय खसे पड़ल निजे लागल भाले गांधीराजार छाप (चिरकाल की हथकड़ियाँ खुलकर धूल में गिर पड़ीं और गांधीराजा का परिचय चिह्न भाल पर अंकित हुआ।)*

इसके साथ जोड़कर शीर्षक हीन और एक कविता रची गई थी जिसमें भविष्य में गांधी की हत्या की घटनाओं का पूर्वाभास है जो अधिनेता रात के अंधेरे में यात्रियों को रास्ता दिखा कर ले जा रहा था। उस पर विश्वास करके यात्री दल उसकी हत्या कर देता है, परंतु अंततः उनको संज्ञान होने पर उस 'महामृत्युंजय' को याद करते हुए आगे बढ़ते हैं: *''अंधकार में चल रहे हैं वे*

पैर के नीचे की धूल नीरव स्पर्श से दिशा की पहचान कराती है।

स्वर्ग पथयात्री नक्षत्र दल मुख संगीत के द्वारा कहते हैं

साथी आगे बढ़ो

अधिनेता की आकाशवाणी कानों में सुनाई पड़ती है

और विलंब नहीं''

आज जब टैगोर के द्वारा रचित एक गीत गांधी को इतना प्रिय होने के कारण काफी अर्थपूर्ण लगता है।

''यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे तबे एकला चलो रे।
यदि केउ कथा ना कय, ओरे ओ अभागा
यदि सबाइ थाके मुख फिराये सबाइ करे भय तबे परान खुले
ओ तुइ मुख फुटे तोर मनेर कता एकला बलो रे।''

दोनों में अकेले बोलने और अकेले चलने का साहस और प्राणशक्ति थी और इसी विशेषता के कारण कभी तो वे दोनों एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न प्रतीत होते हैं और कभी सार्वजनिक कार्य में एक दूसरे के सहभागी लगते हैं।

जवाहरलाल ने कहा था, गांधी और टैगोर दो अलग-अलग व्यक्तित्व बिल्कुल एक-दूसरे से भिन्न प्रकृति के थे। यद्यपि दोनों ही भारत की स्वाभाविक विचार-दृष्टि के आधार पर भारत के प्रसिद्ध व्यक्तियों में से थे। किसी एक गुण के कारण नहीं मगर सामूहिक गुणों के कारण मैंने ऐसा अनुभव किया है। विश्व के प्रसिद्ध व्यक्तियों में गांधी और टैगोर सर्वश्रेष्ठ हैं। टैगोर ने 13 फरवरी, 1938 को Sunday Statesman में गांधी पर एक लेख लिखा था और अंत में कहा था, **कदाचित वे सफल नहीं होंगे, कदाचित वे फेल कर जाएँगे जैसा कि मनुष्यों को अन्याय, पक्षपात से छुड़ाने में बुद्ध असफल हुए थे ईसा मसीह भी, परंतु गांधी हमेशा हर युग में याद किए जाएँगे एक ऐसे व्यक्ति के रूप में, जिसने अपने जीवन को एक उदाहरण बनाकर हमारे बीच उपस्थित किया था।**

❖❖

बहुवचन
अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिक, अंक-३६
जनवरी-मार्च २०१३ से सविनय साभार।

आलेख

पंडिता रमाबाई-मानवता का ओजस्वी स्वर

● डॉ. शंभू जोशी

पंडिता रमाबाई को इतिहास की मुख्य धारा में कभी महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं प्रदान किया गया। इसका एक बड़ा कारण यह भी था कि इतिहास लेखन काफी हद तक पुरुषवादी नज़रिए से लिखा गया था। अधिकांश इतिहास लेखकों ने स्त्रियों को एक सक्रिय कर्ता के रूप में बताने में संकोच किया है जबकि पंडिता रमाबाई में वह सब कुछ था जो उन्हें महान बनाने के लिए पर्याप्त था। विशाल अध्ययन न केवल अपनी परंपरा का अपितु पाश्चात्य परंपरा का भी; एक तुलनात्मक दृष्टि; एक विवेकशील मन और सबसे अधिक एक करुणा से आप्लावित हृदय। अपने उस विवेक, ज्ञान, अध्ययन और करुणा से ओतप्रोत व्यक्तित्व से आगे बढ़कर कर्मशील व्यक्तित्व। तत्कालीन पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों की मुखर आवाज़ का दूसरा नाम था। पंडिता रमाबाई पंडिता रमाबाई ने अपने जीवन, अपने समय पर जो कुछ लिखा वह बताने के लिए पर्याप्त है कि स्त्रियों की इतिहास में सक्रिय भागीदारी रही है। आज के स्त्री-इतिहासकार बल्कि कई पुरुष इतिहासकार भी उन दस्तावेज़ों को खँगालने में लगे हुए हैं जो पंडिता रमाबाई जैसे इतिहासकारों को सामने ला सके। प्रो. उमा चक्रवर्ती ने इतिहास में सक्रिय इन स्त्री विचारकों/कार्यकर्ताओं को उपेक्षित करने की प्रवृत्ति को 'दमन का इतिहास (हिस्ट्री ऑफ़ ऑप्रेशन)' की संज्ञा देते हुए आह्वान किया कि हमारा काम केवल विस्मृत इतिहास को सामने लाने का ही नहीं बल्कि दमन के इतिहासों को भी उजागर करना है।[1] 'द हाई कास्ट हिंदू वुमन' पुस्तक रमाबाई ने विदेशियों का ध्यान भारतीय स्त्री और उसमें भी ऊँची जाति/ ब्राह्मण जाति की स्त्रियों की दयनीय दशा को बताने और उस ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए लिखा था। ताराबाई शिंदे की 'स्त्री पुरुष तुलना' की तरह ही यह पुस्तक भी तत्कालीन पितृसत्ता की प्रमुख आलोचना कृति में शुमार की जाती है और न केवल नारीवादियों के

लिए अपितु समतामूलक समाज के लिए प्रयत्नशील समस्त कार्यकर्ताओं और अध्येताओं के लिए एक मील का पत्थर है।

पंडिता रमाबाई ने चिकित्सा क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी को महत्त्व दिया। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि स्त्रियों की चिकित्सीय जाँच स्त्री चिकित्सकों द्वारा होनी चाहिए। एक पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियाँ इसी डर के कारण अपने रोगों की जाँच एवं उपचार नहीं करा पातीं क्योंकि उनके लिए स्त्री चिकित्सक उपलब्ध नहीं होती थीं। इसी कारण शिक्षा क्षेत्र में एक ओर उन्होंने स्त्री शिक्षकों की उपस्थिति की बात कहीं, वहीं दूसरी ओर चिकित्सा क्षेत्र में शिक्षक और चिकित्सक दोनों रूपों में स्त्रियों की मौजूदगी को स्त्रियों की बेहतरी के लिए आवश्यक बताया।

रमाबाई इसलिए भी उल्लेखनीय हैं कि वे एक साथ विध्वंस एवं सृजन करती हैं। तत्कालीन समय में विद्यमान कुरीतियों, पाखंड और उनके शास्त्रीय तर्कों का खंडन करती हैं, वहीं दूसरी ओर अपने उदाहरण के माध्यम से वह शास्त्रीय तर्कों की व्याख्या महिला मुक्ति के समर्थन में करती हैं। जिस समानता और स्वतंत्रता के अधिकारों की बात करती हैं, उन्हें अपने संस्थान के सृजन के माध्यम से लागू कर समाज के समक्ष एक उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। वे स्त्री शिक्षा, स्त्री अधिकारों एवं सशक्तिकरण की बात को पूरी ताक़त के साथ दुनिया के सामने प्रस्तुत करती हैं।

जिस समय में रमाबाई अपना कार्य कर रही थीं, उस समय देश के कई हिस्सों में कई विचारक और कार्यकर्ता जाति व्यवस्था की असमानता के विरूद्ध लड़ाई लड़ रहे थे। रमाबाई ने अपनी बुलंद आवाज़ में इस जाति व्यवस्था और जाति आधारित असमानता का विरोध किया। अपने संस्थानों में दलित जाति के लोगों को बराबरी का हक़ दिया। उनका पुनर्वास और प्रशिक्षण किया। 1900 तक उनके मुक्ति मिशन में लगभग 1500 निवासी स्त्रियाँ थीं जिसमें अधिकतर विधवाएँ, अनाथ और दिव्यांग बच्चे- बच्चियाँ तथा वंचित वर्ग के सदस्य थे। इनके लिए आवास, शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई थी।

'द हाई कास्ट हिंदू वूमॅन' (1888)[2] पुस्तक में उन्होंने पितृसत्ता की कड़ी आलोचना की और विधवाओं की स्थिति की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उनके लेखन में विशेषत: उच्च जाति की पितृसत्तात्मक संस्कृति को उजागर करने का प्रयास किया गया। सामाजिक श्रेणी में उच्च श्रेणी की होने के बावजूद इस श्रेणी की महिलाओं को किस प्रकार दासता एवं अधीनता की स्थिति का सामना करना पड़ता है, इसका उल्लेख किया गया। इस पुस्तक की प्रस्तावना में महिला मेडिकल महाविद्यालय की डीन रैचेल एल.बॉडले ने लिखा कि 'हज़ारों साल की चुप्पी टूट चुकी है।'[3] यह चुप्पी जिस तरह से टूटी उसके विवेक एवं तर्कों ने भारतीय स्त्रियों के प्रति देखने के नज़रिए में आमूलचूल परिवर्तन ला दिया। उसने धर्म और जाति की ओट में विद्यमान उच्च जाति की स्त्रियों की दासता और अधीनता को बेबाक तरीके से सामने रखा। इसलिए बॉडले संकेत करती हैं कि रमाबाई ने भारतीय स्त्रियों के बारे में 'व्याप्त भ्रांतियों को दूर किया और उनकी ज़रूरतों को सामने रखा।'[4] रमाबाई की पुस्तक के

पीछे उद्देश्य यह था कि लोग स्त्रियों की इस त्रासदी को जानकर करुणाशील होकर उनके उत्थान के लिए प्रत्यनशील होंगे।[5] उन्होंने बताया कि सबसे बुरी स्थिति तो विधवाओं की होती है। अत: अपनी पुस्तक की अपील में उन्होंने इनकी बेहतरी के लिए 'शिक्षा, आवास, प्रशिक्षण की आवश्यकता'[6] पर ज़ोर दिया। शिक्षा के प्रति उनकी ललक यकायक नहीं थी बल्कि वे स्वयं शिक्षा के प्रति समर्पणशीलता एवं स्त्री शिक्षा के प्रति प्रतिबद्ध पिता की, अपने समय के समाज के प्रति विद्रोह की जीती जागती मिसाल थीं। अपने स्वयं के उदाहरण से उन्होंने शिक्षा के उर्ध्वगामी और प्रगतिशील आयाम को अनुभव कर इसे समस्त स्त्री समुदाय के लिए आलोकित करने का मानस बनाया। उनके पिताजी ने धारा के विरुद्ध जाकर रमाबाई का बालविवाह नहीं किया, इसका कारण उनके पिताजी के सामने रमाबाई की बड़ी बहन कृष्णाबाई का उदाहरण था।[7] इस पुस्तक के माध्यम से उन्होंने बताया कि हिंदुस्तान में सामाजिक रीति-रिवाज़ों को जाति एवं पितृसत्ता ने विकृत कर दिया है। प्राचीन काल में स्त्रियों को ऐसी बंदिशों का सामना नहीं करना पड़ता था। स्वतंत्र व्यक्तित्व के तौर पर उनकी मान्यता थी। लेकिन समय के प्रवाह में विभिन्न धर्मशास्त्रों ने स्त्रियों से उनकी आज़ादी छीन ली। ज्ञान और शिक्षा तक स्त्रियों की पहुँच को बाधित कर दिया। उनके अनुसार स्त्रियाँ लिखने-पढ़ने के अपने अधिकार को हासिल करके ही अपने प्रति असमानता और भेदभाव को चुनौती दे सकेंगी। आज 132 वर्ष बाद भी इस पुस्तक के सवाल हमें अपने समाज की स्त्रियों की अवनत स्थिति के बारे में सवाल करती हैं कि क्यों हम अपने समाज की स्त्रियों को एक मनुष्य के रूप में उनके अधिकार देने में पीछे हैं। पूर्वा भारद्वाज और दिप्ता भोग[8] ने इस पुस्तक के बारे में लिखा कि इस पुस्तक में स्त्री के दमन-शोषण का समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण करते हुए जाति और स्त्री की सामाजिक अवस्थिति को सामने लाते हुए स्त्री अधिकारों की मुखर वकालत की गई है।

स्वयं उनके पिता ने समाज से विद्रोह कर पहले अपनी पत्नी और बाद में संतानों को शिक्षा दी। इसके लिए अपने घर और संबंधियों से खुद को दूर कर जंगल को अपना निवास बनाया परंतु शिक्षा की अलख जगाए रखी। केवल भारत में ही नहीं बल्कि इंग्लैंड और अमेरिका में जिस भी जगह रमाबाई को पढ़ने और शिक्षा संबंधी प्रशिक्षण का अवसर मिला, वे निस्संकोच उसका प्रशिक्षण लेती रहीं। उनका जुनून इस हद तक था कि अमेरिका में किंडरगार्डेन की पुस्तकों का उन्होंने मराठी में अनुवाद तक कर दिया ताकि भारत में इन संसाधनों का प्रयोग कर सकें।

रमाबाई उन गिनी-चुनी महिलाओं में से हैं जिन्होंने अपने समय में धर्म और जाति के मुद्दों को जनता के बीच विमर्श का विषय बनाया। धर्म और जाति के विषय को उठाते हुए उन्होंने इसे एक वंचित वर्ग (स्त्री) के नज़रिए से देखने और उसके साथ होने वाली दासता और अधीनता के व्यवहार पर पुनर्विचार करने की बात कहने का साहस किया। वह हिंदू धर्म की परंपरा से ही उस धर्म की प्रगतिशील भूमिका को प्रस्तुत कर यह स्पष्ट करना चाहती थीं कि यह धर्म उन्हें यह छूट देता है। स्वयं

उनका जीवन इस छूट का जीवंत और सशक्त उदाहरण था। उनका स्पष्ट मानना था कि समाज की बेहतरी के लिए स्त्रियों की बेहतरी आवश्यक है। इस कथन के लिए जब तक सहायक सुविधाएँ और स्थितियाँ प्रदान नहीं की जाएँगी, तब तक समाज में ठोस बदलाव संभव नहीं है। उनके इस अनुभव में उनका अध्ययन तो शामिल था ही परन्तु अनेक विद्वानों के रमाबाई के इस पक्ष की उपेक्षा की कि भारतीय स्त्रियों के उनके अध्ययन में उनकी यात्राओं का भी बड़ा योगदान था। यह यात्राएँ उनके लिए अनुभव की पाठशालाएँ थीं। पहले अपने पिता के साथ, बाद में स्वयं द्वारा की गई देश की यात्राओं ने उन्हें यह भरोसा दिलाया कि स्त्रियों की समस्याएँ देश के किसी एक हिस्से की समस्या नहीं बल्कि सारे देश में स्त्रियाँ ऐसा ही दोयम दर्जे का जीवन जी रही हैं। उन्होंने जाना कि धर्म और जाति को आधार बना कर किस तरह स्त्रियों के साथ असमानता और भेदभाव किया जा रहा है। विदेश की यात्राओं ने उन्हें यह भरोसा दिलाया कि शिक्षा, साथ ही साथ चिकित्सीय शिक्षा अभी भारत की स्त्रियों की सबसे महत्त्वपूर्ण ज़रूरत है। अपने संस्कृत ज्ञान के कारण और विद्वानों द्वारा ली गई परीक्षा में खरा उतरने के बाद कलकत्ता में उन्हें 'सरस्वती' की उपाधि से विभूषित किया गया। परंतु यह विशेषण तभी तक सम्माननीय रहा, जब तक वह अपने ज्ञान को स्त्री अधिकारों और समानता के लिए प्रयोग में नहीं करने लगीं। जैसे ही वह स्त्री अधिकारों और समानता के लिए शास्त्र को आधार बना कर समाज में व्याप्त पाखंड को चुनौती देने लगी, यह 'सरस्वती' उसी समाज के लिए अस्वीकार्य हो गई।

रमाबाई के जीवन के अध्ययन से पता चलता है कि जैसे विद्रोह उनके जीवन का अंग रहा। पिता ने समाज से विद्रोह कर उन्हें शिक्षा दी। समाज के बने-बनाए खाँचे से अलग हट कर बाल विवाह नहीं कराया। पंडिता रमाबाई ने शास्त्रीय ज्ञान और व्यवहार के बीच के पांखड के प्रति विद्रोह किया। विपिन बिहारी के साथ अंतरजातीय विवाह किया, जो उस समय बहुत बड़ा कदम था। पति की मृत्यु के बाद दोनों की भावी योजनाओं के अनुसार स्त्रियों की बेहतरी के लिए ऐसे संस्थान खोले जो केवल आश्रय स्थल ही नहीं बल्कि उनके जीवन के पुनर्निर्माण के आधार बने। प्रख्यात विदुषी मीरा कोसंबी ने रमाबाई की देन की चर्चा करते हुए स्पष्ट किया कि उनके संस्थान एक तरह से पितृसत्ता को चुनौती थे क्योंकि ये स्त्रियों को पेशेवर प्रशिक्षण देते थे। इसका सीधा अर्थ स्त्रियों की आर्थिक स्वाधीनता थी जो उन्हें पितृसत्ता के ढाँचे की निर्भरता से दूर कर एक स्वतंत्र व्यक्तित्व की तरह उभार सकती थी।[7] एक

तरह से उन्होंने अपने समय के संस्थानों में प्रयोग किए। अपने समय की पाबंदियों के बावजूद वे विदेश यात्राओं पर गई। उन्होंने धर्म परिवर्तन भी किया लेकिन सिस्टर जेरल्डिन को यह कहने में संकोच नहीं किया कि वे अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता में किसी हस्तक्षेप को बर्दाश्त नहीं करेंगी। मीरा कोसंबी ने उनके ईसाई धर्म स्वीकारने के बाद ईसाई धर्म और चर्च के प्रति उनके रवैये की गहराई से पड़ताल करते हुए बताया कि रमाबाई ने अपनी चेतना और स्व-विवेक से इनमें विद्यमान असमानता और दोहरेपन की कड़ी आलोचना की।[10]

रमाबाई अपने जीवन में वह सब कुछ सीखने और समझने का प्रयास करती हैं जो पुरुष के लिए आरक्षित माना जाता है। ऐसा करके वह बताना चाहती थीं कि अगर बराबरी का अवसर और प्रोत्साहन मिले तो प्रत्येक स्त्री, पुरुष के कंधे से कंधा मिला कर खड़ी हो सकती है और अपना बेहतरीन देकर समाज के उत्कर्ष में योगदान कर सकती है। उनके पिता ने उन्हें पुत्र के साथ संस्कृत सिखाई, अपने स्वअध्ययन से उन्होंने अपने इस कौशल को प्रखर किया। कलकत्ता में अपने ज्ञान के बलबूते न कि दया पर 'सरस्वती' की उपाधि से विभूषित हुई। विवाह के बंद ढाँचे के बाहर जाकर अन्तर्जातीय विवाह किया। विदेश यात्रा की। जहाँ भी, जिस स्थिति में भी ज्ञान प्राप्ति की संभावना बनी, उसे प्राप्त किया। विदेशों में एक साथ विद्यार्थी और अध्यापक रहीं। विदेशों में संस्कृत से परे आधुनिक ज्ञानानुशासनों को सीखा-जाना, किंडरगार्डेन का प्रशिक्षण प्राप्त किया, मुद्रण कला सीखी, भारत आकर सामाजिक उत्थान में लगीं। राजनीति में स्त्रियों की भागीदारी पर सक्रिय हस्तक्षेप किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एवं भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक कांग्रेस[11] जैसे मंचों पर केवल शोभा की वस्तु नहीं बनीं बल्कि कांग्रेस के मंच पर राजनीति में स्त्री सहभागिता पर ज़ोर दिया। हिंदी को देश की संपर्क भाषा बनाने का समर्थन किया। वहीं सामाजिक कांग्रेस में स्त्रियों की दोयम स्थिति के कारणों को बताते हुए उनके समाधानों को प्रस्तुत किया। विषम परिस्थितियों में सीखना और मुख्यधारा के विरोध को सहना साथ ही अपने विचार-कार्य से उसका समुचित प्रत्युत्तर देना ही रमाबाई को रमाबाई बनाता है।

रमाबाई अपने लेखन के माध्यम से ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की दमनकारी संरचना को सामने लाती हैं जो धर्मशास्त्रों से अपना खाद-पानी प्राप्त करती है। वह इस संरचना को अपना लक्ष्य बना कर उसे चुनौती देती हैं और उसके मूल पर प्रहार करती हैं। इस सरंचना को चुनौती देते हुए वे धर्मशास्त्रों से ही इस संरचना के विरोध के तर्क उठाती हैं। इस संरचना के आधार पर अज्ञान को बनाए रखने के प्रयास को चुनौती देते हुए सभी के लिए - विशेषत: स्त्रियों के लिए - शिक्षा की बात कहती हैं। संरचना के अंतर्गत स्त्रियों की अधीनता बनाए रखने के आधारों को चुनौती देते हुए स्त्रियों के शिक्षा-प्रशिक्षण की बात कहती हैं जो आगे चलकर उन्हें आर्थिक आत्मनिर्भरता प्रदान कर सके। इस प्रकार वे ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के मूल आधारों पर प्रहार कर उसके रचनात्मक विकल्प देती हैं। जहाँ उनके समकालीन विचारक और कार्यकर्ता धर्म, जाति, स्त्री जैसे सवालों पर बचते या प्रतिगामी

विचार को समर्थन देने का प्रयास करते हैं, ज़्यादा हुआ तो उदारवादी रवैया जताते हुए बनी हुई संरचना में स्त्रियों के लिए कुछ सहूलियत की बात कर अपनी भूमिका पूरी समझ लेते हैं; वहीं रमाबाई चट्टान की तरह धर्म, जाति और स्त्री के सवाल पर बेबाक राय रखती हैं। ऐसा मानने वाले भी बहुत लोग हैं जो सोचते हैं कि कि ऐसा करते हुए वे समाज, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और आज़ादी के आंदोलन को कमज़ोर कर रही थीं; उन्हें यह समझना चाहिए कि किसी भी समाज, राष्ट्र और उसको कायम रखने की नींव समाज के, व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास पर निर्भर है। अगर समाज, राष्ट्र और आज़ादी को प्राप्त करना है तो इसकी शुरुआत समाज के हाशिए पर रह रहे लोगों की तरक्की से ही संभव होगी। ऐसा प्रयास राष्ट्र विरोधी नहीं बल्कि राष्ट्र निर्माण का ही, समाज विरोधी नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन का ही है और आज़ादी को रोकने का नहीं बल्कि उसे मुकम्मल तरीके से पाने और बनाए रखने का ही है। रमाबाई ऐसा ही कर रही थीं।

अपने समकालीनों में रमाबाई का उल्लेख इस लिए भी प्रासंगिक हो जाता है कि स्त्री समानता और सशक्तिकरण के अपने पूरे उद्देश्य में, चरित्र पर बहुत बल देती हैं। वह बार-बार ज़ोर देती हैं कि हमें चरित्र से दृढ़ स्त्रियाँ चाहिए जो भारत में स्त्री उद्धार के कार्य को अंजाम दे सकें। ऐसा लगता है कि वे इसके माध्यम से ऐसी स्त्रियों की बात कहना चाहती है जो केवल भाषण या व्याख्यान न दें बल्कि समाज परिवर्तन के ठोस काम में अपना योगदान कर सकें। उनकी यह सद्भावना इस वाक्य में दिखाई देती है जो उन्होंने मार्क्स बी.फुलर की पुस्तक 'द रांग्स ऑफ इंडियन वुमेनहुड" नामक किताब की प्रस्तावना में लिखी थी, "Great courage is required to tell the truth when you know all the nation will rise against you as one man and put you down.''[12] स्वयं रमाबाई ने इस स्थिति का सामना किया था लेकिन अपनी शिक्षा, अनुभव से इस प्रहार को न केवल सहा बल्कि अपनी रचनात्मकता से ऐसा प्रत्युतर दिया कि इतिहास में अपना नाम दर्ज कराने में सफल हुईं।

आज हम पंडिता रमाबाई को स्त्री अधिकारों एवं स्त्री सशक्तिकरण के मुखर वक्ता के रूप में याद करते हैं और निस्संदेह इस रूप में उनका योगदान भी अतुलनीय है। मगर अब समय है कि हम स्त्री अधिकारों के वक्ता के साथ-साथ उन्हें मानवाधिकारों की ओजस्वी आवाज़ के रूप में भी प्रतिष्ठित करें। वस्तुत: स्त्री अधिकारों की उनकी माँग का मूल उद्देश्य स्त्री को एक स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में स्थापित करने से ही है। मानवाधिकार भी इस मूल अवधारणा को समाहित करता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है और विशिष्ट है। चूँकि सभी व्यक्ति स्वंतत्र और विशिष्ट हैं अतएव ऐसी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था को मानवाधिकार समर्थक कहा जा सकता है जो व्यक्ति की विशिष्टता और स्वतंत्रता का सम्मान करे। ब्राह्मण पितृसत्ता, धर्मशास्त्रों, चर्च की सत्ता, जाति जैसे संस्थानों से उनके विरोध का मूल कारण यही था कि वे स्त्रियों के व्यक्तित्व को विकसित होने से रोकते हैं। अत: उन्होंने शिक्षा,

प्रशिक्षण, कौशल, विकास जैसे उपायों को बढ़ाने पर ज़ोर दिया जो तत्कालीन समय में स्त्रियों के स्वतंत्र विकास में योगदान दे सके। आज मानवाधिकार की संकल्पना के विकास में हम देख सकते हैं कि उन्नीसवीं सदी के अंत में और बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में एक आवाज़ पंडिता रमाबाई की थी जो हर एक के मुनष्य के रूप में विकास की माँग कर रही थी। इसका कारण इतिहास में उनका महत्त्व अक्षुण्ण है और रहेगा।

❖❖

संदर्भ ग्रंथ

1. चक्रवर्ती, उमा (2013).रिराइटिंग हिस्ट्री : द लाइफ एंड टाइम्स ऑफ पंडिता रमाबाई.नई दिल्ली : ज़ुबान (देखें भूमिका)
2. पं.रमाबाई(1888). द हाईकास्ट हिंदू वूमॅन. फ़िलाडेल्फ़िया.
3. देखें, रमाबाई(2006).हिंदू स्त्री का जीवन(अनुवाद-द हाईकास्ट हिंदू वूमॅन).मेरठ: संवाद प्रकाशन.पृ.31
4. वही, पृ.16
5. वही, पृ.17
6. वही, पृ.94-100
7. वही, पृ.105
8. भारद्वाज, पूर्वा एवं भोग, दिप्ता(2014). भय नाही खेद नाही, पंडिता रमाबाई. नई दिल्ली:निरंतर. पृ.12
9. कोसंबी, मीरा. (अक्टूबर 29,1988). वीमॅन, इमैन्सिपेशन एंड इक्वालिटी : पंडिता रमाबाईज़ कंट्रीब्यूशन टू वीमॅन कॉज. इकानॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली. वॉल्यूम 23, नंबर 44, पृ. डब्ल्यूएस 47.
10. कोसंबी, मीरा. (अक्टूबर 24-31, 1992). इंडियन रिस्पॉन्स टू क्रिश्चयनिटी, चर्च एंड कॉलोनियलिज़्म : केस ऑफ़ पंडिता रमाबाई. इकानॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली. वॉल्यूम 27, नंबर 43/ 44, पृ. डब्ल्यूएस 61- डब्ल्यूएस 71.
11. भारद्वाज,पूर्वा एवं भोग,दिप्ता(2014). भय नाही खेद नाही पंडिता रमाबाई. नई दिल्ली:निरंतर. पृ.142-143.
12. फुलर,मार्क्स बी.(1902). द रांग्स ऑफ इंडियन वीमेनहुड. एडिनबर्ग एवं लंदन : ओलिफेंट एंडरसन एंड फेरीयर. पृ.11-12

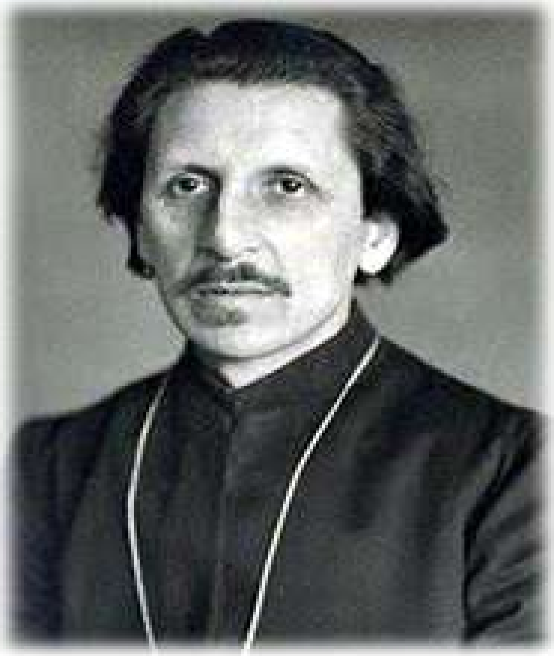

भारतीय राष्ट्रीयता

● आनंद के. कूमारस्वामी

राष्ट्रीय आत्मचेतना जिससे राष्ट्रीयता संगठित होती है किन आयामों के कारण संभाव्य होती होगी? निसंदेह किसी प्रकार की एकता तो आवश्यक है। यद्यपि एकता के कुछ प्रकार ऐसे हैं जो अनावश्यक हैं, और कुछ अपर्याप्त। उदाहरण के लिए उत्तर अमेरिका के नीग्रों लोगों की नस्लीय एकता किसी राष्ट्रीयता की पूरक नहीं। नस्लीय एकता न्यून कारक है; ब्रिटेन की ओर देखिए जिसका गठन नाना प्रकार की नस्लों से मिलकर हुआ है, लेकिन वह राष्ट्रीय आत्मचेतना का अच्छा उदाहरण है। एक और उदाहरण देखें। आयरिश वासियों में कई लोग असल में अंग्रेज़ी मूल के हैं। कीटिंग और एमेट जैसे नार्मन वंश से थे, लेकिन इसके कारण आयरिश राष्ट्रभाव और आत्मचेतना की अभिव्यक्ति में कोई कमी नहीं आती है। साथ ही चेतना की अभिव्यक्ति के लिए सामान्य और विशेष भाषा की भी दरकार नहीं; स्विट्ज़रलैंड जहाँ तीन भाषाओं में बटा हुआ है वही आयरलैंड दो में।

राष्ट्रीयता के दो अनिवार्य तत्त्व हैं- एक भौगोलिक पूर्णत्व, और दूसरे में ऐक्य ऐतिहासिक उद्भव व संस्कृति। ये दोनों तत्त्व कई और विभिन्न संयोगों के साथ भारत की बनावट में प्रचुरता से हैं जिससे ऐतिहासिक परंपरा को मज़बूती मिलती है।

भारत के भौगोलिक पूर्णत्व का साक्ष्य मानचित्र पर नुमाया है और मेरे विचार में यह कभी विवादित नहीं रहा। सामाजिक एकता की पहचान भारतीय संस्कृति के अध्येता के लिए प्रकट रही है। इस विचार को एक से अधिक बार व्यक्तिगत शासकों द्वारा पहचाना गया है, चाहे वह अशोक हों, विक्रमादित्य हों या अकबर। इस विचार को महाभारत काल में ही पहचान लिया गया था। उल्लेखनीय है कि जब युधिष्ठिर ने अपनी सार्वभौम सत्ता का उद्घोष करने के लिए राजसूय यज्ञ का आयोजन किया था तो इस अवसर आयोजित भव्य सभा में भीम, धृतराष्ट्र और उनके सौ पुत्रों सहित

गांधार नरेश सुबाला और सुदूर दक्षिण से लेकर उत्तर तक के प्रतिनिधि आए थे। (द्रविड़, सिलौन और कश्मीर) कई गाथाओं में भी हमें हिमालय पर देवताओं की ऐसी सभाओं के संदर्भ मिलते हैं जब आपसी मतभेदों को दूर करने के प्रयास होते रहे थे। कोई यह नहीं कह सकता कि ऐसे मांडलिक और संघीय भारतीय राज्य की परिकल्पना भारतीय मनीषा के लिए नई बात है। ऐसे स्पष्ट साक्ष्य हैं कि भारत संस्कृति, सभ्यता और धर्म के संस्थापकों ने (हम उन्हें ऋषि कह सकते हैं) इस एकता पर ध्यान केंद्रित किया और यही कारण है कि आज ऐसा प्रतीत होता है कि यह एकता भारतीय संस्कृति में पूर्णता से व्याप्त है। यह बेवजह तो नहीं कि भारत के धर्मस्थल अनेक हैं और जो कोई भी एक से अधिक स्थलों पर तीर्थ भ्रमण को निकले, उसे भारतीय भूमि पर सैकड़ों मील की यात्रा करनी होगी? बनारस बौद्धों और हिंदुओं के लिए एक समान पवित्र है; सिलौन में समनाला बौद्धों, हिंदुओं और मुसलमानों के लिए एक जैसा पवित्र है। क्या हिमालय के लिए हर भारतीय के मन में अक्षय श्रद्धा का कोई अर्थ नहीं? क्या वह अवधारणा अर्थविहीन है जो एक शास्त्रसम्मत हिंदू को सागर न पार करने और मातृभूमि को न छोड़ने के लिए बाध्य करती है? क्या गंगा के प्रति भारतवासियों का भावुक अर्चनागीत विचार योग्य नहीं है? 'सात महत्वपूर्ण नदियाँ' जैसे वाक्यांशों में कितना कुछ छिपा हुआ है। उत्तर में एक हिंदू और सिलौन में एक बौद्ध निम्नलिखित मंत्र को अनुष्ठानिक प्रक्षालन करते समय बार-बार दोहराता है: 'ॐ गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती, नर्मदे, सिंधु, कावेरी जले स्मिन सन्निधिम कुरु:'। हम भारतीय शिक्षा की आधारशिला महाकाव्यों और कालिदास की लोकप्रिय कविता मेघदूत पर भी विचार करें। क्या इनमें मातृभूमि के लिए प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं है? भारत की 'पुण्यभूमि' कहीं दूर-दराज़ फिलिस्तीन में नहीं बल्कि भारत की भूमि ही है।

संपूर्ण भारतीय संस्कृति की धारा में भूमि की प्रधानता भारत के विचार में ऐसे रची-बसी है कि किसी ने इससे अलग कुछ सोचने की आवश्यकता महसूस नहीं की होगी। "बृहत चौहद्दी के अंतर्गत हर प्रांत राष्ट्रीयता की पूर्णता के लिए अपना योगदान देता रहा है। कोई भी स्थान दूसरे स्थान के विशेष महत्व और उसकी भूमिका का दोहराव नहीं करता।'' उदाहरण के लिए सिलौन को देखिए, आज जिसके लोग भारत के किसी और स्थान की तुलना में अधिक विराष्ट्रीयकृत हैं। क्या हम सिलौन के बिना भारत को पूर्ण मान सकते हैं? सिलौन, पाली साहित्य और दक्षिण बौद्ध दर्शन के निवास स्थल के रूप में अनुपम है और काल की निरंतरता को जिस तरह से यहाँ संरक्षित किया गया है वह भारतीय कालक्रम में अवतरित हुए कुछ दोषों में सुधार करने में कारगार है। सिंहल कला, धर्म और समाज हमारे सामने प्राचीन हिंदू संस्कृति की उस रूप-रेखा को प्रस्तुत करता है जो संभवत: आधुनिक भारत में आज मिलना कठिन है। सभी भारतीय महाकाव्यों में सबसे उदात्त राम और सीता की प्रेम कहानी, हर भारतीय के मन में भारत और सिलौन की एकता को रेखांकित करती है। कालांतर में उत्तर भारत का सिलौन से संबंध कई इतिहासों में रेखांकित है, चाहे वह अशोक के दूत-

कर्म पर विजय का उत्प्रवास हो, या बाद में एक सिंहली राजकुमारी का राजपूत वधु बनना हो। इस राजकुमारी को ऐसा अपनत्व और प्रेम ऐसा मिला कि उसे मृत्यु को राजपूत सम्मान से जोड़कर उसे अपनाने में झिझक नहीं हुई। आज भी उत्तर भारत के लोगों को उस राजकुमारी का नाम सुंदरता और शौर्य के पर्याय के रूप में स्मरण है। *(संदर्भ: मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत की नायिका पद्मावति-संपादक)* ठीक इसी तरह भारत का हर भाग सार्वलौकिक ऐतिहासिक परंपरा और आध्यात्मिक सगोत्रता में एकीकृत है; वे एक दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते, अलग रह नहीं सकते।

भारत के विविध लोग उस जादुई खेल की तरह हैं जहाँ उनका मिलना असंभव दिखाई देता है; उनका साथ होना एक गुत्थी है लेकिन यह गुत्थी एक ऐसी कुंजी से खुलती है जिसे हम राष्ट्रीय आत्मचेतना कहते हैं। मुझे अक्सर मरियम और अली नूर-अल-दीन की कहानी वाली उस किरेन लड़की की वीणा की याद आती है। उसे "सोने की लटकन वाले हरे रंग के मखमली कपड़े में'' रखा गया था। उसने उस थैले को लिया और "उसे खोला, हिलाया और उसके भीतर से लकड़ी के दो-तीन टुकड़े आ गिरे, जिसे उसने एक में दूसरे को बिठा कर तब तक जतन किया जब तक वह भारतीय कारीगरी में गढ़ा गया वीणा न बन गया। फिर लड़की ने वीणा को अपनी गोद में रखकर उसके तारों पर अपनी उँगलियाँ फेरनी शुरू की; तार झंकृत होते ही जैसे वीणा ने रोना आरंभ कर दिया; वह उस जलस्रोत को याद करने लगी जिसने उसे पानी दिया था, उस भूमि को जहाँ से वह जन्मी थी, उस काष्ठकर्मी को जिसने लकड़ी के उस कुंदे को वीणा का स्वरूप प्रदान किया, उस व्यापारी को जिसने उसे बेचा, उस जहाज़ को जिसके सहारे वह परदेस लाई गई थी; ऐसा प्रतीत होता था कि वह वीणा इन सबसे प्रश्न कर रही थी और अपने करुण संगीत से इन्हें उत्तर भी दे रही थी।'' भारत भी उसी वाद्ययंत्र की भाँति है जहाँ हर भाग अलग तो दिखाई देता है लेकिन वे सभी एक-दूसरे के पूरक के रूप में निर्मित हुए हैं; जिन्हें जब एकत्र करके एक साथ लयबद्ध किया जाएगा तब भारत भी उस धरती की कहानी कहेगा जहाँ से वह जन्मा है, उस जल की याद करेगा जिसे वह पीता रहा है; और उन निर्माताओं को सामने लाएगा जिन्होंने उसे आकार दिया है। उस दिन भारत केवल एक सुरीली ध्वनि नहीं होगा, वह आशा का स्रोत होगा जो सभी को तब आशा देगा जब उसकी सबसे अधिक आवश्यकता

होगी।

अभी तक मैंने केवल हिंदुओं और हिंदू संस्कृति की बात कही है। ऐसा इसलिए है क्योंकि हिंदू भारत में आबादी का मुख्य भाग हैं और भारतीय संस्कृति का बड़ा भाग भी हिंदू ही है। लेकिन अभी ऊपर जिस उद्धरण का सहारा लिया गया था वह अरबी अदब से है और यह रेखांकित करना होगा कि भारतीय संस्कृति के क्रमिक विकास में इस्लामी और फ़ारसी-अरबी संस्कृति का बड़ा योगदान है। आज ऐसे भारत की कल्पना नहीं की जा सकती जहाँ मुग़लों का शासन नहीं था, जहाँ ताजमहल नहीं बनाया गया और जो फ़ारसी कला और साहित्य से रिक्त है। कुछ ही भारतीय शासकों ने अकबर की तरह सत्ता का उदाहरण प्रस्तुत किया है, और उसकी तरह मज़हबी उदारता दिखाई है। आक्रांताओं की विरासत पर ही उसने हिंदू-मुसलमान विवाद से परे जाकर उनमें समन्वय और विश्वास का सृजन किया जो आज के बंगाल से कहीं बेहतर है। वह यह जानता था कि हिंदू-मुसलमानों के स्वार्थ भिन्न नहीं हैं और उन्हें आज के बंगाल के बनिस्बत अधिक निष्पक्षता से मिलता रहा। बाँट कर शासन करने की नीयत उसके भीतर नहीं थी। अधिकांश पूर्वी शासकों की ही तरह उसने अपनी पहचान अपने साम्राज्य के साथ जोड़ दी और ऐसे हर स्वार्थ को दबा दिया जो उसके हितों के विपरीत हो। आधुनिकल काल को छोड़कर पूर्व में यह लगभग हर विदेशी आक्रान्ता की नियति रही है कि उन्होंने दूर से बैठकर शासन नहीं किया। ईसा से दो सदी पहले एक तमिल ग्राही, ईलाल, का शासन इतना परोपकारी था कि दो हज़ार वर्षों बाद भी उसके मकबरे पर लोग सम्मान प्रकट करते हैं। और अधिक आधुनिक उदाहरण 18वी सदी के तमिल (हिंदू) शासक कृति श्री और उसके दो भाइयों का है, जो सिंहली लोगों के इतने निकट हो गए थे कि उनके बारे में कहा गया कि वे "धर्म और लोगों के साथ मिलकर एक हो चुके थे।'' यह कहने के लिए कि आज भी ऐसे उदाहरण मौजूद हैं। हम हैदराबाद, बरोडा और ग्वालियर की ओर देख सकते हैं।

एक क्षण के लिए अगर भारतवासियों में व्याप्त विविधता और अंतर को अगर दोगुना भी मान लें फिर भी यह अंतर भारत और यूरोप की तुलना में नगण्य है। पश्चिमी सत्ता हर मायने में एक विदेशी सत्ता दिखाई देती है अगर इसकी तुलना हिंदुओं द्वारा मुसलमानों पर राज से करें या उसके विपरीत मुसलमानों द्वारा हिंदुओं पर इस अन्यदेशीय सत्ता का अर्थ क्या है? जॉन स्टुअर्ट मिल के शब्दों में: "लोगों का अपने द्वारा अपनी सरकार बनाने का मतलब है लेकिन अपने लिए किसी और से सरकार बनवाने का कोई अर्थ नहीं। एक तरह के लोग दूसरे लोगों को केवल अपने उपयोगों के लिए बचाए रख सकते हैं, अपने लोगों का पेट भरने के लिए उनकी भूमि पर खेती करवा सकते हैं, अपने लोगों के मुनाफ़े के लिए उनका दोहन कर सकते हैं।'' 'श्वेत लोगों के कर्तव्यों' जैसी कोई भी कठबोली इन तथ्यों का काट नहीं हो सकती। हमें लगता है कि पूर्व पर पश्चिम का वर्चस्व मानवता के उत्कृष्ट मूल्यों के क्रमिक विकास में एक भयावह अवरोध है। 'श्वेत लोगों के कर्तव्यों' की अवधारणा एशियाई भाषाओं में अनुवादित करने पर 'श्वेत

आपदा' बन जाती है। हम ऐसा इसीलिए नहीं कहते क्योंकि हम यूरोपीय सभ्यता और उसकी उपलब्धियों का तिरस्कार करते हैं बल्कि हम यह स्मरण करवाना चाहते हैं कि केवल यूरोपवासियों से भरा संसार एक ऊसर स्थल होगा, ठीक वैसे ही जैसे केवल भारतीय और चीनियों से भरा संसार विपन्न दिखाई देगा। इसीलिए हमें स्वयं में यह विश्वास पैदा करना होगा कि हमारी राष्टीय आत्मचेतना सुदृढ़ है और यह किसी कड़वाहट और बहिष्करण का शिकार नहीं हुई है। इसी कारण शिव नारायण के सिद्धांतो में विश्वास हो, सुंदर राष्ट्रीय गीत 'बंदे मातरम्' में भारतीय जागृति की आस्था हो, ठीक उसी तरह जैसे मर्सेइल्लैस ने एक जागृत फ़्रांस का अवतरण किया और एथना कार्बेरी के गीतों में आयरलैंड की भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई।

ऐसे शब्द-भाव अपने भविष्य को लेकर अनिश्चित और दिशाहीन लोगों की बोली नहीं होते। यह भाव भारतीय लोगों की अपनी मातृभूमि से प्रेम और उसी उसकी सुंदरता में उनके विश्वास की कथा है। वे एक भारतीय राष्ट्र की कलकल ध्वनि हैं जो कभी निराश और नदारद नहीं होगी।

❖❖

अंग्रेज़ी से अनुवाद: डॉ. मनोज राय

आचार्य, गांधी अध्ययन केंद्र
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा

गुरुदेव टैगोर और भारतीय सिनेमा

● श्री हार्दिक वी. भट्ट

सिनेमा संबंधी गांधी और रवींद्रनाथ के विचार :

सिनेमा जो कि एक सृजनात्मक एवं कलात्मक विधा है इसके प्रति महात्मा गांधी और गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर के विचारों की ओर जब दृष्टिपात करते हैं तो उनके विचारों में काफी अंतर दिखाई देता है। गांधीजी और गुरुदेव दोनों ही एक दूसरे के प्रति विशेष अनुराग एवं आदर रखते थे लेकिन कई विषयों में उनके विचार एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न एवं विपरीत रहे हैं। इन दोनों महानुभावों के सिनेमा संबंधी विचारों में भी काफी भिन्नता दिखाई देती है।

महात्मा गांधी की सिनेमा में बिल्कुल भी रुचि नहीं थी। उन्होंने अपने समग्र जीवन काल में 2 जून 1944 में जुहू स्थित पाम-बन बंगले में प्रकाश पिक्चर्स द्वारा बनाई गई (रामराज्य-1943) इस एक ही फ़िल्म के कुछ अंश देखे थे। गांधी जी का यह मानना था कि सिनेमा समाज को ग़लत दिशा की ओर मोड़ देगा और समाज पथभ्रष्ट हो जाएगा। सिनेमा के संबंध में बापू के विचारों का कोई ठोस लिखित प्रमाण तो नहीं मिलता है। लेकिन सिनेमा एक कलात्मक विद्या है और गांधी जी के कला संबंधी विचारों के आधार पर उनके सिनेमा संबंधी विचार को भी हम समझने का प्रयास कर सकते हैं। गांधी जी ने कला के संबंध में कहा है कि ''जिस कला के पीछे प्राणियों पर ज़ुल्म, उनकी हिंसा, उत्पीड़न आदि हो उसमें बाह्य सौंदर्य कितना भी हो तो भी वह कला शैतान का दूसरा नाम है। जो कला मनुष्य की ही मृत्यु को उभारती हो और भोगों की इच्छा को बढ़ाती हो वह कला गंदे साहित्य की श्रेणी में ही समझी जाएगी।'' महात्मा गांधी कला के भीतर सत्यम् शिवम् सुंदरम् की स्थापना को देखना चाहते थे और उनका मानना था कि जो कला सत्यम् शिवम् सुंदरम्की स्थापना से विहीन है वह मानवीय दुर्बलता का प्रचार-प्रसार करेगी। सिनेमा को वे एक कला के रूप में ना ही देखते थे और ना ही स्वीकार करते थे उनकी इस विधा के प्रति

सकारात्मक दृष्टि नहीं थी। सन 1927 में इंडियन सिनेमैटोग्राफी कमिटी ने सिनेमा संबंधी गांधी जी के विचार जानने एवं संदेश हेतु एक प्रश्नावली उन्हें भेजी तब गांधी जी के सचिव महादेव भाई देसाई ने इसके उत्तर में स्पष्ट कर दिया कि ''गांधी जी की सिनेमा में कोई रुचि नहीं है और वे सिनेमा की प्रशंसा करेंगे ऐसी उम्मीद नहीं रखी जानी चाहिए।'' महादेव भाई के इस उत्तर से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि बापू सिनेमा के प्रति ना तो अनुराग रखते थे और ना ही जिज्ञासात्मक दृष्टि।

निष्कर्ष रूप में यदि कहा जाए तो बापू हर व्यक्ति में एवं हर कला में आदर्शोन्मुख एवं संतत्वपूर्ण अभिव्यक्ति देखना चाहते थे जो आधुनिक और व्यवहार जगत में संभव नहीं था इसीलिए उनके भीतर कभी भी सिनेमा के प्रति रुचि निर्माण नहीं हुई और वे आजीवन सिनेमा और सिनेमा संगीत से परहेज़ करते रहे। परंतु महात्मा गांधी के आदर्श एवं विचार भारतीय सिनेमा में हमेशा येन केन प्रकारेण छाए रहे एवं सिनेमा जगत को प्रेरणा देते रहे।

गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर स्वयं बहुमुखी प्रतिभा के धनी एवं सृजनात्मकता के प्रकाश पुंज थे। अत: वे हर सृजनात्मक विद्या को कलात्मक एवं जिज्ञासा पूर्ण दृष्टि से देखते थे। सिनेमा में गुरुदेव की रुचि उनके आसपास की किसी भी नई चीज़ के बारे में उनकी गहन जिज्ञासा के कारण ही उपजी है ऐसा कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में यदि कहें तो यह उनका एक सृजनात्मक एवं कलात्मक आवेग ही था जो उन्हें चित्रकला की भाँति ही सिनेमा कला की ओर ले जाता है। हालाँकि यह निश्चित नहीं है कि सिनेमा के प्रति उनकी पहली प्रतिक्रिया क्या थी ? या उन्होंने अपनी 10 लंबी अंतर्राष्ट्रीय यात्राओं के दौरान कौन-कौन सी फ़िल्में देखी थीं ? लेकिन कुछ लिखित प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि उन्होंने सिनेमा को एक सुंदरता के आंदोलन के रूप में देखा। 1930 के दशक से तो उनकी कविताओं की लय और मिजाज़ की तुलना सिनेमा की भाषा से की जाने लगी। टैगोर कई बार सिनेमा की इस नई कलात्मक धारा से मोहित हुए थे और अक्सर वे सिनेमा की तुलना संगीत से किया करते थे। उनके सचिव अमिय चक्रवर्ती ने एक जगह लिखा है कि गुरुदेव जब यूरोप की धरती पर उतरे (संभवत: 1925 के दौरे के दौरान), तब उन्होंने चारों ओर देखा था और टिप्पणी की थी कि ''यूरोप एक विशाल सिनेमा है।'' इस प्रकार गुरुदेव सौंदर्य को भी सिनेमा के रूप में देखते थे ऐसा कहा जा सकता है। गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर ने कोलकाता स्थित न्यू थियेटर फ़िल्म कंपनी के माध्यम से सन 1932 में अपने द्वारा लिखे गए (नटीर पूजा-1926) नाटक पर से नटीर पूजा फ़िल्म बनाई एवं उसका निर्देशन भी स्वयं ही किया। यह फ़िल्म उन दिनों काफी चर्चित रही और सफल भी रही। इस फ़िल्म को देखने आई हुई लोगों की भीड़ को देखने के बाद टैगोर ने अपने आसपास के लोगों से धीमे स्वर में कहा ''क्या यह फ़िल्म मैंने बनाई है ?'' गुरुदेव की रुचि सिनेमा में थी इस बात को इस आधार पर भी देखा जा सकता है कि उस ज़माने के उनके समकालीन रहे फ़िल्म निर्माताओं एवं निर्देशकों ने, उनके द्वारा बनाई गई फ़िल्मों में गुरुदेव की रुचि थी इस बात

की पुष्टि अपने कई साक्षात्कारों में की है। इसमें न्यू थियेटर के प्रमथेशचंद्र बरुआ, प्रेमांकुर आटोर्थी, बीरेंद्रनाथ सरकार आदि प्रमुख हैं जिन्होंने न केवल गुरुदेव को देखा है बल्कि उनके सानिध्य में भी रहे हैं। बीरेंद्रनाथ सरकार ने अपने एक बांग्ला इंटरव्यू में इस बात का भी ज़िक्र किया है कि गुरुदेव अक्सर न्यू थियेटर्स फ़िल्म स्टूडियो में आया करते थे और वहाँ घंटों बैठकर ज्ञानात्मक एवं सृजनात्मक चर्चा किया करते थे। हमारे पास गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर के सिनेमा संबंधी विचारों को जानने एवं समझने के लिए एक ठोस लिखित प्रमाण है, उस ज़माने के मशहूर बांग्ला रंगमंच एवं सिनेमा के अदाकार शिशिर कुमार भादुड़ी के भाई मुरारी भादुड़ी को 26 नवंबर 1929 को गुरुदेव द्वारा लिखा गया एक पत्र। गुरुदेव ने इस पत्र में मुरारी से सिनेमा संबंधी अपने विचारों को व्यक्त किया है। इस पत्र के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं।

-एक कला रूप की विशेषताएँ उसकी आवश्यकताओं की प्रकृति से निर्धारित होती है। मेरा मानना है कि कला के रूप में सिनेमा का अपेक्षित उदय होना अभी बाक़ी है। कला का उद्देश्य अपनी स्वयं की निर्मित दुनिया में ख़ुद को स्वतंत्र रूप से व्यक्त करना है। यदि ऐसा ना हो तो इसकी गरिमा खो जाती है एवं अभिव्यक्ति ख़राब हो जाती है।

सिनेमा इतने लंबे समय से साहित्य के अधीन रहा है इसका कारण यह है कि कोई भी कलाकार अपनी प्रतिभा के बल पर इसे इस गुलामी से मुक्त नहीं कर पाया है। यह कठिन है क्योंकि एक तस्वीर के निर्माण के लिए न केवल प्रतिभा बल्कि काफी वित्त की भी आवश्यकता होती है।

मोशन पिक्चर का प्रमुख तत्व ''छवि का प्रवाह है'' गति में इस रूप की सुंदरता और भव्यता को इस तरह विकसित करना होगा कि यह शब्दों के उपयोग के बिना ही आत्मनिर्भर हो जाए। यदि संगीत का एक राग, ताल के शब्दों के बिना गहनता प्राप्त कर सकता है तो इस 'उद्देश्य रूप' को एक विशिष्ट सौंदर्य अनुभव के रूप में क्यों नहीं माना जाना चाहिए?

मुरारी भादुड़ी को लिखा गया यह पत्र इस मायने में आकर्षक है कि यह मौन काल के सिनेमा के बारे में उनकी सोच को स्पष्ट रूप में प्रकट करता है। निष्कर्ष रूप में गुरुदेव सिनेमा की ओर बेहद आशापूर्ण एवं कलात्मक दृष्टि रखते थे वे अपने समय के सिनेमा का कलात्मक उत्कर्ष देखना चाहते थे अत: उन्होंने मुरारी भादुड़ी को लिखे गए पत्र के माध्यम से अपने दौर के सिनेमा को ना केवल उसकी ख़ामियों को परख कर उसे दूर करने की बात कही बल्कि उन्हें एक नई दृष्टि एवं दिशा के साथ स्वतंत्र उद्देश्य को लेकर कलात्मक उत्थान की ओर उन्मुख होने की राह भी दिखलाई। इस प्रकार महात्मा गांधी और गुरुदेव के सिनेमा संबंधी विचारों में ज़मीन आसमान का अंतर देखने को मिलता है।

रवींद्रनाथ की रचना पर बनी पहली फ़िल्म:

बलिदान (सैक्रिफाइस) - 1927 (रवींद्रनाथ की रचना पर बनी पहली मूक फ़िल्म) - बलिदान (सैक्रिफाइस) यह सन 1927 में रवींद्रनाथ टैगोर के नाटक (विसर्जन-1890) पर बनाई हुई सबसे पहली रवींद्रनाथ की रचना आधारित

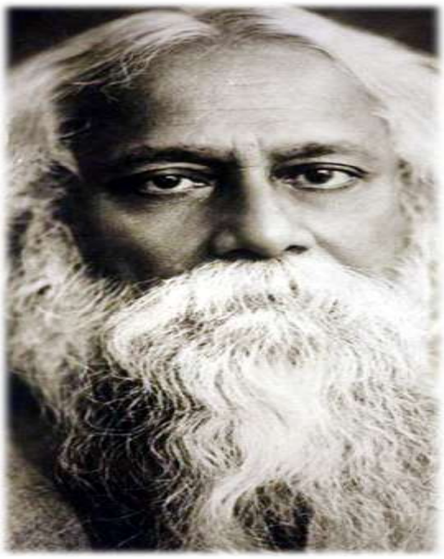

भारतीय मूक फ़िल्म थी। इस फ़िल्म का निर्माण ओरिंएट पिक्चर्स कॉरपोरेशन(बॉम्बे) द्वारा किया गया था। फ़िल्म का निर्देशन ओरिंएट पिक्चर्स कॉरपोरेशन (बॉम्बे) के संस्थापक नवल गांधी ने किया था। फ़िल्म की पटकथा जमशेद रत्नागर ने लिखी थी। फ़िल्म के कैमरामैन नवल भट्ट थे। इस फ़िल्म में उस दौर के मास्टर विट्ठल, सुलोचना (रूबी मायर्स), ज़ुबैदा, सुल्ताना और जानी बाबू जैसे दिग्गज एवं लोकप्रिय कलाकारों ने अभिनय किया था। द इंडियन सिनेमैटोग्राफ कमेटी द्वारा 1927-28 में 'एक उत्कृष्ट एवं सही मायने में भारतीय फ़िल्म' के रूप में इसे सराहा गया था। 'बलिदान' यह फ़िल्म एक प्रगतिशील, तर्कसंगत राजा और एक रूढ़िवादी कर्मकांड से बंधे हुए पुजारी के बीच के संघर्ष की कहानी के साथ-साथ सामाजिक सुधार लाने का एक प्रेरक प्रयास करने वाली फ़िल्म थी। राजा और पुजारी के बीच विवाद की जड़ धार्मिक उद्देश्यों के लिए दी जाने वाली पशु बलि है। फ़िल्म के निर्माता निर्देशक एवं शीर्ष कलाकारों को गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की कृति के फ़िल्म रूपांतरण को अपनाने में काफी सफलता एवं प्रशंसा मिली। इस फ़िल्म का प्रसारण भारत के अलावा इंग्लैंड के सिनेमाघरों में भी किया गया था।

चिरकुमार सभा - 1932 (रवींद्रनाथ की रचना पर बनी पहली बोलती फ़िल्म) - चिरकुमार सभा सन 1932 में बनी बांग्ला भाषा की बोलती फ़िल्म है। इस फ़िल्म का निर्माण कोलकाता स्थित न्यू थियेटर फ़िल्म कंपनी ने किया था। फ़िल्म का निर्देशन प्रेमांकुर आटोर्थी ने किया था। फ़िल्म का संगीत रायचंद बोराल द्वारा दिया गया था। छायांकन नितिन बोस ने किया था। फ़िल्म में दुर्गादास बैनर्जी, मोलीना देवी, अमर मल्लिक जैसे दिग्गज बांग्ला कलाकारों ने अभिनय किया था। गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर के उपन्यास (चिरकुमार सभा-1926) पर आधारित यह एक कॉमेडी फ़िल्म है। उपन्यास की कहानी भी हास्य-रस से भरी हुई है। उपन्यास और फ़िल्म की कहानी जो है वह प्रोफेसर चंद्रा बासु, घर पर रहने वाले कठोर कुँवारे लड़कों के एक समूह के इर्द-गिर्द ही घूमती हैं। जो नियमित रूप से मिलते हैं शुरू में शादी से कतराते हैं, दूर भागते हैं और अंतत: शादी के लिए तैयार हो जाते हैं। भारतीय बोलपट सिनेमा के प्रारंभ में साहित्यिक कृतियों का फ़िल्म रूपांतरण करने की परंपरा का प्रारंभ न्यू थियेटर्स फ़िल्म कंपनी ने ही किया था। इस फ़िल्म कंपनी से जुड़े हुए कलाकार, लेखक, गीतकार, निर्माता-निर्देशक सभी साहित्य, कला, संस्कृति में काफी रुचि रखने वाले एवं उसकी गहन समझ रखने वाले थे। इसी

कारणवश इस फ़िल्म कंपनी के बैनर तले जो भी साहित्यिक कृति आधारित फ़िल्में बनीं वे रूपांतरण की दृष्टि से, कला की दृष्टि से, तकनीकी दृष्टि से, काफी सफल एवं समृद्ध रही। चिरकुमार सभा जैसी फ़िल्म ने आगे चलकर अन्य निर्माता एवं निर्देशकों के लिए गुरुदेव की रचना पर आधारित फ़िल्में बनाने के लिए एक प्रेरणात्मक मार्ग प्रशस्त किया। इसी फ़िल्म से प्रेरित होकर देवकी बोस ने इसी नाम से सन 1956 में चिरकुमार सभा फ़िल्म बनाई थी।

नटीर पूजा - 1932 (रवींद्रनाथ टैगोर द्वारा निर्मित, अभिनीत एवं निर्देशित एकमात्र फ़िल्म) - सन 1931 के अंत में गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर अपने नृत्य नाटक (नटीर पूजा-1926) के मंचन के लिए शांतिनिकेतन से कोलकाता आए। यहाँ न्यू थियेटर फ़िल्म कंपनी के संस्थापक बी.एन. सरकार ने गुरुदेव को अपने न्यू थियेटर्स के बैनर तले नटीर पूजा (नृत्य नाटक) को सिनेमा में रूपांतरित करने के लिए आमंत्रित किया। टैगोर ने उनके इस विचार को सहमति दी और इस फ़िल्म के सह निर्माता बने। इस फ़िल्म की शूटिंग न्यू थिएटर स्टूडियो के फ्लोर नंबर एक पर हुई थी। केवल 4 दिनों के भीतर इस फ़िल्म को शूट किया गया था। इस फ़िल्म के निर्माता, निर्देशक और लेखक तो गुरुदेव रवींद्रनाथ थे ही उन्होंने इस फ़िल्म में अभिनय भी किया था। फ़िल्म के सिनेमैटोग्राफर नितिन बोस थे एवं कैमरामैन सुबोध मित्र थे। सुबोध मित्र ने फ़िल्मांकन के पारंपारिक नियमों का पालन नहीं किया था और फ़िल्म को एक स्टेज ड्रामा की तरह ही शूट किया था। गुरुदेव के अलावा शांतिनिकेतन के विद्यार्थियों ने इस फ़िल्म में अभिनय किया था। शूटिंग और संपादन का काम पूर्ण होने के बाद 22 मार्च 1932 को कोलकाता स्थित चित्रा थिएटर में इस फ़िल्म को रिलीज़ किया गया था। फ़िल्म में टैगोर की उपस्थिति के कारण यह उम्मीद की जा रही थी कि फ़िल्म दर्शकों द्वारा बेहद पसंद की जाएगी। फ़िल्म के सह-निर्माता बी.एन. सरकार ने टैगोर की शांतिनिकेतन परियोजना में फ़िल्म की आय का 50 प्रतिशत दान करने के लिए भी अपनी सहमति दी थी लेकिन यह फ़िल्म व्यावसायिक रूप से असफल रही। बाद में इस व्यावसायिक विफलता के लिए फ़िल्म की मद्धम गति को दोषी ठहराया गया। हालाँकि कुछ बांग्ला आलोचकों ने फ़िल्म की 'सौंदर्यवादी मूल्यों' के लिए सराहना की थी। इस फ़िल्म का एक अन्य विशेष आकर्षण है नृत्य करने वाली लड़की का हंस गीत एवं श्रीमती की भूमिका निभाने वाले कलाकार का व्याख्यात्मक नृत्य। प्राचीन भारतीय कला को इस कलात्मक विधा के माध्यम से पुनर्जीवित करने का श्रेय भी रवींद्रनाथ टैगोर को ही जाता है।

रवींद्रनाथ की रचनाओं पर बनी फ़िल्मों का सामान्य परिचय:

1. रचना :विसर्जन- (नाटक)1927, **आधारित फ़िल्म**:बलिदान (सैक्रिफाइस) (मूक फ़िल्म), **वर्ष**:1927, **निर्माता**:ओरिएंट पिक्चर्स कॉरपोरेशन **निर्देशक**: नवल गांधी, **कलाकार**:सुलोचना, जुबेदा, मास्टर विट्ठल, जानी बाबू, जल खंबाता, **भाषा**:हिंदी और अंग्रेज़ी इंटरटाइटल

2. रचना :गिरिबाला-1895 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**:गिरिबाला (मूक फ़िल्म), **वर्ष**:1929,

निर्माता:मदन थिएटर्स, **निर्देशक**: मधु बोस, **कलाकार**:धीरज भट्टाचार्य, नरेश मित्र, ललिता देवी, शांति गुप्ता, लीलावती, तिनकारी चक्रवर्ती, **भाषा**:हिंदी, बांग्ला और अंग्रेज़ी इंटरटाइटल

3. **रचना**:नौकाडूबी-1906 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:नौकाडूबी (मूक फ़िल्म), **वर्ष**:1932, **निर्माता**:मदन थिएटर्स, **निर्देशक**:नरेशचंद्र मित्र, **कलाकार**:नरेश मित्र, कनक नारायण, नीरज भट्टाचार्य, शिशुबाला, सुनीला, भूप, **भाषा**:हिंदी, बांग्ला और अंग्रेज़ी इंटरटाइटल

4. **रचना** :नटीर पूजा-1926 (नृत्य नाटक), **आधारित फ़िल्म**:नटीर पूजा, **वर्ष**:1932, **निर्माता**:न्यू थिएटर्स, **निर्देशक**:रवींद्रनाथ टैगोर, **कलाकार**:शांतिनिकेतन के विद्यार्थी, **भाषा**:बांग्ला

5. **रचना** : चिरकुमार सभा-1926 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**: चिरकुमार सभा **वर्ष**:1932, **निर्माता**:न्यू थिएटर्स, **निर्देशक**:प्रेमांकुर आटोर्थी, **कलाकार**: अनुपमा, धीरेन बैनर्जी, मनोरंजन भट्टाचार्य, मोलिना देवी, फनी बर्मा, अमर मल्लिक, धनी दत्त, **भाषा**:बांग्ला

6. **रचना** :चोखेर बाली-1903 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:चोखेर बाली, **वर्ष**:1938, **निर्माता**:एसोसिएटेड प्रड्यूसर्स, **निर्देशक**: सतू सेन, **कलाकार**: रमा बैनर्जी, मनोरंजन भट्टाचार्य, छबि बिस्वास, शांतिलता घोष, आरती गुहा, हरेन मुखर्जी, सुप्रोवा मुखर्जी, इंदिरा रॉय, **भाषा**:बांग्ला

7. **रचना** :गोरा-1910 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:गोरा, **वर्ष**:1938, **निर्माता**:देवदत्त शील, **निर्देशक**:नरेश मित्र, **कलाकार**:प्रतिमा दासगुप्ता, देवबाला, राजलक्ष्मी देवी, जीबन गांगुली, नरेश मित्र, रानीबाला, **भाषा**:बांग्ला

8. **रचना** :सोध-बोध-1926 (कॉमेडी उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**: सोधबोध, **वर्ष**:1942, **निर्देशक**:सौम्येन मुखर्जी, **कलाकार**:छबि बिस्वास, **भाषा**:बांग्ला

9. **रचना**:नौकाडूबी-1906 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:मिलन, **वर्ष**:1946, **निर्माता**:बॉम्बे टॉकीज़, **निर्देशक**:नितिन बोस, **कलाकार**:दिलीप कुमार, रंजना, मीरा मिश्रा, पहाड़ी सान्याल, मोनी चेटर्जी, एस नज़ीर, गायत्री रॉय सुनालीनी देवी, सती देवी, के.पी. मुखर्जी, **भाषा**:हिंदी

10. **रचना** :नौकाडूबी-1906 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:नौकाडूबी, **वर्ष**:1946, **निर्माता**:बॉम्बे टॉकीज़, **निर्देशक**: नितिन बोस, **कलाकार**:अभि भट्टाचार्य, मीरा सरकार, मीरा मिश्रा, पहाड़ी सान्याल, मोनी चैटर्जी, श्याम लाह, **भाषा**:बांग्ला

11. **रचना** :चार अध्याय-1934 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**: ज़लज़ला, **वर्ष**:1952, **निर्माता**:आर्ट फ़िल्म ऑफ एशिया, **निर्देशक**:पॉल जिल्स, **कलाकार**:किशोर साहू गीताबाली, देवानंद, सुनालिनी, कृष्णकांत शकूर, सीता बोस, जगदेव, **भाषा**:हिंदी

12. **रचना** :नौकाडूबी-1906 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:माथेर कुला मणिक्कम, **वर्ष**:1956, **निर्माता**:ए. शंकर रेड्डी, **निर्देशक**:टी. प्रकाश राव, **कलाकार**:जेमिनी गणेशन, ए. नागेश्वर राव, एस.वी. रंगा राव, डी. बालासुब्रमण्य, अंजली देवी, सावित्री, एम.एन. राजम, **भाषा**: तमिळ

13. **रचना** :नौकाडूबी-1906 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:चरणा दासी, **वर्ष**:1956, **निर्माता**:ए. शंकर

रेड्डी, **निर्देशक**:टी. प्रकाश राव, **कलाकार**:एन.टी. रामा राव, अंजली देवी, एस.वी. रंगा राव, रामन्ना रेड्डी, कन्नाम्बा, हेमलता, अंबिका सुकुमारन, **भाषा**: तेलुगु

14. रचना :चिरकुमार सभा-1926 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**: चिरकुमार सभा, **वर्ष**:1956, **निर्माता**:देवकी बोस, **निर्देशक**:देवकी बोस, **कलाकार**:जीबेन बोस, अजीत चैटर्जी, अहिंद्रा चौधरी, अपर्णा देवी, भारती देवी, तापती घोष, अनीता गुहा, उत्तम कुमार, नीतीश मुखर्जी, जहर रॉय, सोवा सेन, जमुना सिन्हा, तुलसी चक्रवर्ती, जहर गांगुली, **भाषा**: बांग्ला

15. रचना :काबुलीवाला-1892 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**: काबुलीवाला, **वर्ष**:1956, **निर्माता**: चारुचित्र, **निर्देशक**: तपन सिन्हा, **कलाकार**:छबी बिस्वास, राधामोहन भट्टाचार्य, मंजू डे, नुतू बसु, जयश्री बिस्वास, जिबोन बोस, पारिजात बोस, पीयूष बोस, लालू बर्मन, रासुराज चक्रवर्ती, श्राबनी चौधरी, धीरज दास, आशा देवी, सुबल दत्ता, रंजन गुप्ता, अतनु कुमार, प्रीति मजूमदार, देबरंजन मुखर्जी, गोपेन मुखर्जी, कृष्णधन मुखर्जी, देवी नियोगी, जहर रॉय, मंजू शर्मा, **भाषा**: बांग्ला

16. रचना :नौकाडूबी-1906 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:घूँघट, **वर्ष**:196, **निर्माता**:जेमिनी फ़िल्म, **निर्देशक**:रामानंद सागर, **कलाकार**:बीना राय, आशा पारेख, प्रदीप कुमार, भारत भूषण, रहमान, आग़ा, कन्हैया लाल, राजेंद्र नाथ, **भाषा**:हिंदी

17. रचना : क्षुधित पाषाण-1895 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**: क्षुधिता पाषाण, **वर्ष**:1960, **निर्माता**:हेमेन गांगुली, **निर्देशक**:तपन सिन्हा, **कलाकार**: सौमित्र चैटर्जी, अरुंधति देवी, राधामोहन भट्टाचार्य, छबी बिस्वास, पद्मादेवी, दिलीप रॉय, रसराज चक्रवर्ती, **भाषा**: बांग्ला

18. रचना :खोकाबाबुर प्रत्यावर्तन-1891, **आधारित फ़िल्म**:खोकाबाबुर प्रत्यावर्तन, **वर्ष**: 1960, **निर्माता**: अग्रदूत, **निर्देशक**: अग्रदूत, **कलाकार**: उत्तम कुमार, असितबरन, मास्टर बबुआ, शिशिर बटब्याल, पंचानन भट्टाचार्य, अरबिंद चक्रवर्ती, सुशील चक्रवर्ती, तुलसी चक्रवर्ती, मास्टर छोटन, सुमिता दासगुप्ता, मास्टर देबाशीष, आशा देवी, गोपाल डे, मास्टर दिब्येंदु, नकुल दत्ता, नकुल दत्ता घोष, टीनू घोष, मास्टर जहर, धीरेंद्र कुंडू, बिनॉय लाहिड़ी, सीता मुखर्जी, दीप्ति रॉय, सुचरिता सान्याल, सोवा सेन, मास्टर तिलक, मास्टर टीटू, जहर गांगुली, **भाषा**: बांग्ला

19. रचना :काबुलीवाला-1892 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**: काबुलीवाला, **वर्ष**:1961, **निर्माता**:बिमल रॉय, **निर्देशक**:हेमेन गुप्ता, **कलाकार**:बलराज साहनी, उषा किरण, सज्जन, असित सेन, पॉल महेंद्र, सोनू, पद्मा, लक्ष्मी, सरिता देवी, अनवरी बाई, लीला आगा, बेबी फरीदा, नीलम बाई, लता सिन्हा, मंजू, **भाषा**:हिंदी

20. रचना :पोस्टमास्टर-1891, समाप्ति-1893, मोनिहारा-1898 (तीन लघु कथाएँ), **आधारित फ़िल्म**:तीन कन्या, **वर्ष**:1961, **निर्माता**:सत्यजित रॉय, **निर्देशक**: सत्यजित रॉय, **कलाकार**:अनिल चैटर्जी, चंदना बैनर्जी, नृपति चैटर्जी, खगेन पाठक, गोपाल रॉय; काली बेनर्जी, कनिका मजूमदार, कुमार रॉय, गोविंदा चक्रवर्ती; सौमित्र चैटर्जी, अपर्णा सेन, सीता मुखर्जी, गीता डे, संतोष दत्ता, मिहिर

चक्रवर्ती, देवी नियोगी, **भाषा**: बांग्ला

21. रचना: नष्टनीड-1901(उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:चारुलता, **वर्ष**:1964, **निर्माता**: आर.डी. बंसल, **निर्देशक**: सत्यजीतराय,

कलाकार: सौमित्र चैटर्जी, माधबी मुखर्जी, सेलेन मुखर्जी, श्यामल घोषाल, गीताली रॉय, भोलानाथ कोयल, सुकु मुखर्जी, दिलीप बोस, सुब्रत सेन शर्मा, जोयदेब, बंकिम घोष, **भाषा**: बांग्ला

22. रचना :अतिथि-1895 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**:अतिथि, **वर्ष**:1965, **निर्माता**:छायाबनी प्राइवेट लिमिटेड, **निर्देशक**:तपन सिन्हा, **कलाकार**:पार्थसारथी मुखर्जी, सलिल दत्ता, सौमेन मुखर्जी, बंकिम घोष, अजितेश बैनर्जी, बिनॉय लाहिड़ी, रसराज चक्रवर्ती, आर.के. सेन, साधन सेन, सतु मजूमदार, स्वपन भट्टाचार्य, सूर्य चटर्जी, मनोजीत लाहिड़ी, स्मिता सिन्हा, कृष्णा बोस, **भाषा**: बांग्ला

23. रचना :डाक घर-1912 (नाटक), **आधारित फ़िल्म**:डाक घर, **वर्ष**:1965, **निर्माता**:चिल्ड्रन फ़िल्म सोसाइटी ऑफ इंडिया, **निर्देशक**:ज़ूल वेलानी, **कलाकार**: मुकरी, सचिन पिलगांवकर, बलराज साहनी, शर्मिला टैगोर, **भाषा**:हिंदी

24. रचना :मेघा ओ रौद्र (मेघ ओ रौद्र - लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**: मेघ-ओ-रौद्र, **वर्ष**: 1969, **निर्माता**: अजितेश बंद्योपाध्याय, **निर्देशक**: अरुंधती देवी, **कलाकार**:नृपति चैटर्जी, हाशू बैनर्जी, प्रह्लाद ब्रह्मचारी, प्रसाद मुखर्जी, स्वरूप दत्ता, गौतम घोष, सुशील चक्रवर्ती, बंकिम घोष, मोनोजीत लाहिड़ी, भाभारूप भट्टाचार्य, बलाई सेन, सतु मजूमदार, समर नाग, **भाषा**: बांग्ला

25. रचना :समाप्ति-1893 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**:उपहार, **वर्ष**:1971, **निर्माता**: राजश्री प्रोडक्शन, **निर्देशक**:सुधेंदु रॉय, **कलाकार**: स्वरूप दत्त, जया भादुड़ी, सुरेश चटवाल, नंदिता ठाकुर, नाना पळसीकर, लीला मिश्रा, कामिनी कौशल, **भाषा**:हिंदी

26. रचना :माल्यदान (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**:माल्यदान, **वर्ष**: 1971, **निर्माता**: चित्रलिपि फिल्म्स, **निर्देशक**: अजॉय कर, **कलाकार**:सुमित्रा चैटर्जी, नंदिनी माल्या, साबित्री चैटर्जी, सेलेन मुखर्जी, भानु बंदोपाध्याय, गीता डे, नृपति चैटर्जी, **भाषा**:बांग्ला

27. रचना :स्त्रीर पत्र-1914 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**:स्त्रीर पत्र, **वर्ष**:1972, **निर्माता**:द्रौपदी, **निर्देशक**:पूर्णेंदु पित्रया, **कलाकार**: निमू भौमिक, आशिम चक्रवर्ती, संतोष दत्ता, माधबी मुखर्जी, स्मिता सिन्हा, **भाषा**:बांग्ला

28. रचना : विसर्जन-1890(नाटक), **आधारित फ़िल्म**: विसर्जन, **वर्ष**:1974, **निर्माता**:सबिता बसु, **निर्देशक**:बिरेश्वर बोस, **कलाकार**:अजितेश बैनर्जी, विद्युत बसु, भोला बोस, नृपति चैटर्जी, सुधीर रॉय चौधरी, अनुराधा दासगुप्ता, महादेव डे, स्वदेश डे, उत्पल दत्त, बी. घोषाल, रॉबिन घोषाल, जीवन गुहा, इंद्रजीत, श्री कुमार, प्रीति मजूमदार, मलय, नंदिनी मालिया नाहा, जोगेन रॉय, मणि श्रीमानी, **भाषा**:बांग्ला

29. रचना :नौकाडूबी-1906 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**: नौकाडूबी, **वर्ष**:1979, **निर्माता**: चित्रलिपि फिल्म्स, **निर्देशक**:अजॉय कर, **कलाकार**: काली बैनर्जी, सौमित्र चेटर्जी, उत्पल दत्त, रॉबी घोष, सुमित्रा मुखर्जी, अपर्णा सेन, **भाषा**:बांग्ला

30. रचना :घरे बाहिरे-1916(उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:घरे बाहिरे, **वर्ष**:1984, **निर्माता**:नेशनल फ़िल्म डेवलपमेंट कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया, **निर्देशक**:सत्यजित रॉय, **कलाकार**:सौमित्र चैटर्जी, विक्टर बैनर्जी, स्वातिलेखा चैटर्जी, गोपा आइच, जेनिफर केंडल, मनोज मित्रा, इंद्रप्रमित रॉय, बिमल चेटर्जी, **भाषा**:बांग्ला

31. रचना :क्षुधित पाषाण-1895 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**: लेकिन, **वर्ष**:1991,
निर्माता: लता मंगेशकर, हृदयनाथ मंगेशकर, **निर्देशक**:गुलज़ार, **कलाकार**:विनोद खन्ना, डिंपल कापड़िया, अमजद खान, बीना बैनर्जी, आलोक नाथ, हेमा मालिनी, **भाषा**:हिंदी

32. रचना :काबुलीवाला-1892 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**: काबुलीवाला, **वर्ष**:1993, **निर्माता**:सबीना के. अज़ीज़, **निर्देशक**: सिद्दीकी-लाल, **कलाकार**: जगतया श्रीकुमारी, विनिथ, चारमिला, नेदुमुडी वेणु, सुकुमारी, कल्पना, **भाषा**:मलयाळम

33. रचना :चार अध्याय-1934 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:चार अध्याय, **वर्ष**:1997, **निर्माता**:नेशनल फ़िल्म डेवलपमेंट कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया, **निर्देशक**:कुमार शाहनी, **कलाकार**:सुमंतो चट्टोपाध्याय, नंदिनी घोषाल, कौशिक गोपाल, श्रुति यूसुफी, रजत कपूर, रामचंद्र परिहार, **भाषा**:हिंदी

34. रचना :नौकाडूबी-1906 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:ओका चिन्ना माता, **वर्ष**:1997, **निर्माता**:श्री वेंकटेश्वरा आर्ट फिल्म्स, **निर्देशक**:मुथ्याला सुब्बैया:, **कलाकार**:जगपति बाबू, इंद्रजा, सत्यनारायण, राजीव राज, ब्रह्मानंदम, रघुनाथ रेड्डी, मलिकार्जुन राव, सिरीशा, अन्नपूर्णा, रागिनी, श्री लक्ष्मा, **भाषा**:तेलुगु

35. रचना :चोखेर बाली-1903 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:चोखेर बाली, **वर्ष**:2003, **निर्माता**:श्रीकांत मोहता, महेंद्र सोनी, **निर्देशक**:ऋतुपर्णो घोष, **कलाकार**:ऐश्वर्या राय बच्चन, प्रसेनजीत चैटर्जी, राइमा सेन, लिली चक्रवर्ती, तोता रॉय चौधरी, सोनाली चक्रवर्ती, सुदेशना रॉय, मौसमी साहा, सुचिता रे चौधरी, जरीन चौधरी, अभिषेक बोस, भारती देवी, चार्लोट हेवर्ड, शादमन महताब मिहाद, जोश इलाह इस्लाम नितोल, **भाषा**: बांग्ला

36. रचना :चतुरंग-1916 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:चतुरंग, **वर्ष**:2008, **निर्माता**: कैम्प फायर फिल्म्स प्रोडक्शन, **निर्देशक**:सुमन मुखोपाध्याय, **कलाकार**:ऋतुपर्णो सेनगुप्ता, धृतिमान चैटर्जी, सुब्रत दत्ता, जॉय सेनगुप्ता, कबीर सुमनी, **भाषा**:बांग्ला

37. रचना :नौकाडूबी-1906 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:नौकाडूबी, **वर्ष**:2011, **निर्माता**:सुभाष घई, **निर्देशक**:ऋतुपर्णो घोष, **कलाकार**:प्रसेनजीत चैटर्जी, जिशु सेनगुप्ता, राइमा सेन, रिया सेन, धृतिमान चटर्जी, लबोनी सरकार, **भाषा**:बांग्ला

38. रचना :चार अध्याय-1934 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**: एलार चार अध्याय, **वर्ष**: 2012, **निर्माता**: ड्रीम्ज़ मूवीज़ एंड एंटरटेनमेंट प्रा. लिमिटेड, **निर्देशक**: बप्पादित्य बेनर्जी, **कलाकार**: इंद्रनील, सेनगुप्ता, दीपांकर डे, शमौन अहमद, रुद्रनिल घोष, अरुणिमा घोष, बरुन चंदा, कमलिका चंदा, विक्रम चेटर्जी, नित्या गांगुली, **भाषा**:बांग्ला

39. रचना :ताशेर देश-1933 (नाटक), **आधारित**

फ़िल्म:ताशेर देश, **वर्ष**:2012, **निर्माता**:एनएफडीसी (इंडिया)/ ओवरडोज़ आर्ट प्राइवेट लिमिटेड/ ड्रीम डिजिटल इंक/ अनुराग कश्यप फिल्म्स, **निर्देशक**:कौशिक मुखर्जी, **कलाकार**:तिलोत्तमा शोम, इमाद शाही, अनुब्रत बसु, री सेन, माया टाइडमैन, सौम्यक कांति दे बिस्वास, जयराज भट्टाचार्य, **भाषा**:बांग्ला

40. रचना :चित्रांगदा-1936 (नृत्य-नाट्य), **आधारित फ़िल्म**:चित्रांगदा, **वर्ष**:2012, **निर्माता**:श्री वेंकटेश फिल्म्स, **निर्देशक**:ऋतुपर्णो घोष, **कलाकार**: ऋतुपर्णो घोष, जिशु सेनगुप्ता, अंजन दत्त, अनशुआ मजूमदार, दीपांकर दे, राइमा सेन, कौशिक बैनर्जी, **भाषा**:बांग्ला

41. रचना :अचलायतन-1912 (नाटक), **आधारित फ़िल्म**:एन ऑपसोलीट ऑल्टर, **वर्ष**:2013, **निर्माता**:हयाश तन्मय, **निर्देशक**: हयाश तन्मय, मृगांका शेखर गांगुली, **कलाकार**:अनिर्बान लौला, जॉयदीप बेनर्जी, मृगांका शेखर गांगुली, आनंद सिंह, तनिष्ठा भट्टाचार्य, सत्यजीत बिस्वास, स्वागत दास, सहेली दास, **भाषा**:बांग्ला

42. रचना :अपरिचिता-1916 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**:देखा, ना-देखायो, **वर्ष**:2013, **निर्माता**:निबेदिता दास गुप्ता, **निर्देशक**: अर्नब घोषाल, **कलाकार**:समदर्शी दत्ता, देबोस्मिता, लबोनी सरकार, प्रियंका बेनर्जी, **भाषा**:बांग्ला

43. रचना :द्रष्टिदान-1898-1899 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**:तप्तपदि, **वर्ष**:2014, **निर्माता**:हेमंत भाईलाल भावसार, सचिन बलिराम नागरगोजे, **निर्देशक**: सचिन बलिराम नागरगोजे, **कलाकार**: कश्यप पारुलेकर, वीना जामकर, श्रुति मराठे, नीना कुलकर्णी, शरद पोंकशे, अंबरीश देशपांडे, अश्विनी एकबोर्ट, **भाषा**:मराठी

44. रचना :शेषेर कविता-1929 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**: शेषेर कविता, **वर्ष**:2015, **निर्माता**:मल्लिका जलान, **निर्देशक**:सुमन मुखोपाध्याय, **कलाकार**: स्वस्तिका मुखर्जी, कोंकणा सेन शर्मा, राहुल बोस, तूलिका बसु, देवदत्त घोष, **भाषा**:बांग्ला

45. रचना :जोगाजोग-1929(उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**: जोगाजोग, **वर्ष**:2015, **निर्माता**:जयंतकुमार घोष, **निर्देशक**: शेखर दास, **कलाकार**:शुवोलग्ना मुखर्जी, ब्रत्य बसु, अनन्या चेटर्जी, लॉकेट चेटर्जी, अर्जुन चक्रवर्ती, बरुन चंदा, साहेब चेटर्जी, सुजॉय प्रसाद चेटर्जी, बिस्वजीत चक्रवर्ती, लिली चक्रवर्ती, **भाषा**:बांग्ला

46. रचना :गोरा-1910 (उपन्यास), **आधारित फ़िल्म**:गोरा, **वर्ष**:2015, **निर्माता**: शुक्ल मित्रा प्रोडक्शन, **निर्देशक**: शुक्ल मित्रा, **कलाकार**: रिज़ाउल हक, सेनजुती सेनगुप्ता, भास्वर चेटर्जी, विश्वनाथ बसु, तनिमा सेन, अनशुआ मजूमदार, **भाषा**:बांग्ला

47. रचना :पोस्ट मास्टर-1891(लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**: पोस्टमास्टर, **वर्ष**:2016, **निर्माता**:श्री मीडिया, **निर्देशक**:सृजन बर्धन, **कलाकार**:ईशान मजूमदार, पुजारीनी घोष, बिस्वजीत चक्रवर्ती, तूलिका बसु, मौसमी, कल्याण चेटर्जी, बोधिसत्व मजूमदार, बिप्लब चेटर्जी, रोहन भट्टाचार्य, **भाषा**:बांग्ला

48. रचना : दृष्टि-(लघु कथा), **आधारित**

फ़िल्म:दृष्टि, **वर्ष**:2016, **निर्माता**: उपकार एंटरटेनमेंट, **निर्देशक**: प्रोद्युत कुमार देका, **कलाकार**: नयन सैकिया, प्रियंका भार्गवी लोनीश्री दास, चेतना दास, हिरण्य दास, असमिया

49. रचना :काबुलीवाला-1892 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**: बायोस्कोपवाला, **वर्ष**:2017, **निर्माता**:सुनील दोशी, **निर्देशक**:देब मेधेकर, **कलाकार**:डैनी डेन्जोंगपा, गीतांजलि थापा, आदिल हुसैन, टिस्का चोपड़ा, माया सराव, बृजेंद्र कला, एकावली खन्ना, **भाषा**:हिंदी

50. रचना :लेबोरेटरी- 1940-1941 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**: लेबोरेटरी, **वर्ष**: 2018, **निर्माता**: होइचोई फिल्म्स, **निर्देशक**: सौमिक चट्टोपाध्याय, **कलाकार**:दर्शना बनिक, अनिर्बान भट्टाचार्य, कौशिक सेन, नंदिनी घोषाल, **भाषा**:बांग्ला

51. रचना :डिटेक्टिव-1898 (लघु कथा), **आधारित फ़िल्म**:डिटेक्टिव, **वर्ष**:2020, **निर्माता**:श्री वेंकटेश फिल्म्स, **निर्देशक**: जॉयदीप मुखर्जी, **कलाकार**:अनिर्बान भट्टाचार्य, ईशा सहा, साहेब भट्टाचार्य, ट्रिना सहा, अंबरीश भट्टाचार्य, **भाषा**: बांग्ला

52. रचना :खोकाबाबुर प्रत्यावर्तन-1891, **आधारित फ़िल्म**:दरबान, **वर्ष**:2020, **निर्माता**: बिपिन नाडकर्णी, योगेश बेलदार, **निर्देशक**:बिपिन नाडकर्णी, **कलाकार**: शारिब हाशमी, शरद केलकरी, रसिका दुगल, फ्लोरा सैनी, हर्ष छाया, वरुण शर्मा, अन्नू कपूर, **भाषा**:हिंदी

उपरोक्त कोष्टक में भारतीय सिनेमा की केवल उन्हीं फ़िल्मों को समाविष्ट किया गया है जो कि गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की गद्य एवं पद्य कृति के आधार पर बनाई गई हैं। जिन-जिन फ़िल्मों में केवल रवींद्रनाथ नाथ टैगोर के गीत, काव्य एवं संगीत का ही प्रयोग किया गया है। ऐसी फ़िल्मों को इस कोष्टक में स्थान नहीं दिया गया है।

रवींद्रनाथ की रचनाओं पर बनी फ़िल्मों की विशेषताएँ :

गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर भारतीय साहित्य, कला एवं संस्कृति की महान एवं विरल विभूति है। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का प्रभाव आज भी भारतीय साहित्य एवं कला जगत पर किसी न किसी प्रकार से छाया हुआ है। भारतीय सिनेमा भी गुरुदेव की कृतियों से एवं उनके रचना कर्म से अछूता नहीं रहा है। सिनेमा जगत के दिग्गज निर्माता एवं निर्देशकों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार समय-समय पर गुरुदेव की रचनाओं को अपने सिनेमा का विषय बनाया है। भारतीय सिनेमा के आरंभ काल से यानी कि मूक फ़िल्मों के दौर से ही गुरुदेव की कृतियाँ सिनेमा के पर्दे पर फ़िल्म के रूप में रूपांतरित होकर आने लगी थी। मूक फ़िल्मों के दौर में तीन फ़िल्में गुरुदेव की कृति पर से बनी सन 1927 की ओरिएट पिक्चर्स कॉरपोरेशन की बलिदान (सैक्रिफाइस) जो गुरुदेव के (विसर्जन-1890) नाटक पर आधारित थी। एक के बाद कोलकाता के मदन थियेटर्स ने सन 1929 में गिरिबाला (गिरिबाला-1895 लघु कथा पर आधारित) और सन 1932 में नौकाडूबी (नौकडूबी-1906 उपन्यास पर आधारित) फ़िल्में बनाई। यह दौर ऐसा था कि जब सिनेमा अपने आप को विकसित कर रहा था। इस दौर में फ़िल्मों में आवाज़ नहीं थी। कई सारी

अन्य तकनीकी सीमाएँ भी थीं लेकिन अंग्रेज़ी एवं हिंदी इंटरटाइटल वाली यह तीनों ही फ़िल्में उस दौर में सफल रही थी जिसमें बलिदान- (सैक्रिफाइस) फ़िल्म तो विदेशों में भी काफी सराही गई थी। जब बोलती फ़िल्मों का दौर शुरू हुआ तब विशेष रूप से बांग्ला भाषा के सिनेमा ने साहित्यिक कृतियों को अपनी फ़िल्मों का आधार एवं विषय बनाना शुरू किया। बांग्ला सिनेमा में बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, रवींद्रनाथ टैगोर और शरद बाबू जैसे रचनाकारों की रचनाओं को सिनेमा के पर्दे पर सफलतापूर्वक पेश किया। गुरुदेव की रचनाओं पर आधारित अलग-अलग भारतीय भाषाओं में कई फ़िल्में बनी है।

गुरुदेव की रचना आधारित फ़िल्मों की विशेषताओं की जब बात आती है तो यहाँ कुछ प्रमुख फ़िल्मों के उदाहरण एवं अभ्यास के आधार पर ही रवींद्रनाथ की रचना आधारित फ़िल्मों की विशेषता पर बात की जा सकती है। सबसे पहले यदि हम हिंदी फ़िल्मों की ओर दृष्टिपात करें तो बॉम्बे टॉकीज निर्मित, नितिन बोस निर्देशित फ़िल्म मिलन-1946 गुरुदेव के नौकडूबी उपन्यास पर आधारित पहली बोलती हिंदी फ़िल्म काफी चर्चित एवं सफल रही। नितिन बोस स्वयं फ़िल्म कला के हर पहलू से परिचित एवं प्रतिभावान निर्देशक होने के कारण उन्होंने गुरुदेव की इस साहित्य कृतिका फ़िल्म रूपांतरण बड़े ही रचनात्मक ढंग से किया है। उपन्यास के नायक की भूमिका को महान अभिनेता दिलीप कुमार ने बख़ूबी निभाया है। मिलन फ़िल्म के बाद सन 1952 में पॉल जिल्स द्वारा निर्मित निर्देशित फ़िल्म ज़लज़ला यह फ़िल्म गुरुदेव के चार अध्याय नामक उपन्यास पर से बनाई गई थी। किशोर साहू, गीता बाली एवं देवानंद अभिनीत यह फ़िल्म भी गुरुदेव की रचना आधारित उत्कृष्ट हिंदी फ़िल्मों में से एक है। गुरुदेव की रचनाओं पर आधारित फ़िल्में तो हिंदी, बांग्ला, मराठी, तेलुगु, मलयाळम, तमिळ आदि भारतीय भाषाओं में बनाई गई है। लेकिन विशेषता की दृष्टि से यदि देखा जाए तो केवल हिंदी एवं बांग्ला भाषा में निर्मित फ़िल्में ही गुरुदेव की रचना की आत्मा एवं संवेदना को समझ कर बनाई हुई दिखाई देती है। अन्य भाषाओं में जो फ़िल्में बनी हैं वे रवींद्रनाथ की कृति एवं रचना धर्मिता के निकट तो जा सकी हैं किंतु उसमें सत्यजित रॉय, बिमल रॉय, नितिन बोस जैसे कुशल निर्माता-निर्देशक की तरह फ़िल्म के रूप ढाल नहीं पाए है। सत्यजित रॉय द्वारा निर्मित तीन कन्या-1961, चारुलता-1964, घरे बाहिरे-1984 तीनों ही फ़िल्में गुरुदेव की रचना पर से आधारित फ़िल्मों का एक अप्रतिम एवं बेजोड़ नमूना हैं। इसका एक कारण यह है कि इन फ़िल्मों के भीतर साहित्यिक कृति से आधारित सिनेमा बनाने के लिए जो भी तत्व और तथ्य आवश्यक हैं वह सभी इन फ़िल्मों में विद्यमान हैं। टैगोर के साथ सत्यजित रॉय का संबंध इतना गहरा है कि कवि के सृजन विश्व को यह फ़िल्मकार बख़ूबी समझता है और उसे सुंदर एवं कलात्मक ढंग से सिनेमा में रूपांतरित करता है। रूपांतरण की दृष्टि से सत्यजित रॉय जैसी फ़िल्में ना कोई बना सका है और ना ही बना सकेगा। सत्यजित रॉय का यह मानना था कि शांतिनिकेतन में बिताए उनके तीन वर्षों ने उनके जीवन को काफी समृद्धि प्रदान की थी। शांतिनिकेतन ने उन्हें भारतीय कला के वैभव से जोड़ा। शांतिनिकेतन में आने से

पूर्व सत्यजित रॉय पाश्चात्य कला, संगीत और साहित्य के ही प्रभाव में थे किंतु शांतिनिकेतन ने उन्हें पूर्व और पश्चिम का संयुक्त उत्पाद बनाया। उन्होंने एक जगह कहा है कि 'फ़िल्म निर्माता के रूप में मैं शांतिनिकेतन का उतना ही ऋणी हूं जितना अमेरिकी और यूरोपीय सिनेमा का।' सत्यजित रॉय, बिमल रॉय, नितिन बोस, देवकी बोस, तपन सिन्हा, हेमंत गुप्ता, अरुंधती देवी जैसे बांग्ला फ़िल्म निर्माता, निर्देशकों ने गुरुदेव की रचनाओं को आधार बनाकर भारतीय सिनेमा को साहित्यिक कृति आधारित उत्तम फ़िल्में देने का काम किया है। यह सब अच्छी फ़िल्में दे सके हैं इसका एक कारण यह भी है कि रचनाकार जिस भाषा में लिखता है उसी भाषा एवं संस्कृति में यह लोग पले बढ़े हैं। ये सभी गुरुदेव की रचनाधर्मिता की अंतरात्मा तक पहुँच पाए हैं और सुंदर ढंग से सिनेमा में उसे ढाल पाए हैं। इनकी फ़िल्मों की एक विशेषता यह भी है कि ये सभी सिनेमा के व्याकरण से बख़ूबी परिचित है। फ़िल्म के माध्यम से हर संभावनाओं को बाहर लाने के लिए क्लोज़ अप, मिड शॉट, लोंग शॉट, जूम लेंस, फोकस, लाइट, फ्रीज शॉट, फ्लैश बैक आदि चीज़ों की जानकारी इन निर्देशकों में दिखाई देती हैं। सत्यजित रॉय द्वारा निर्देशित चारुलता फ़िल्म का अंतिम शार्ट हो। ऐसे कई सीन इन फ़िल्मकारों की प्रतिभा को उद्घाटित करते हैं। इन बांग्ला फ़िल्मकारों के अलावा हिंदी सिनेमा के गुलज़ार, रामानंद सागर, कुमार शाहनी जैसे फ़िल्मकारों ने भी गुरुदेव की रचनाओं को न्यायपूर्ण ढंग से फ़िल्म के रूप में रूपांतरित किया है। अन्य भाषाओं के फ़िल्मकार जैसे टी. प्रकाश राव, सिद्धकी लाल, मुथ्याला सुब्बैया, सचिन बलिराम नगरगोजे, बिपिन नाडकर्णी ने भी अपनी भाषा के सिनेमा में गुरुदेव की रचनाओं को रूपांतरित करके उत्तम सिनेमा देने का एक वंदनीय प्रयास किया है। वे सभी अपने इस प्रयास में अधिकांश सफल रहे हैं। आज के नए फ़िल्मकार ऋतुपर्णो घोष, हयाश तन्मय, अर्नब घोषाल, सुमन मुखोपाध्याय, शेखर दास, सौमिक चट्टोपाध्याय, जॉयदीप मुखर्जी आदि आज भी गुरुदेव की साहित्यिक कृतियों को आधार बनाकर फ़िल्म निर्माण कर रहे हैं। ये सभी सत्यजित रॉय के बताए हुए मार्ग को ही प्रेरणा स्त्रोत मानकर फ़िल्म जगत को अपने कलात्मक फ़िल्म सृजन से समृद्धि प्रदान कर रहे हैं।

निष्कर्ष:

गुरुदेव की रचना पर आधारित तमाम फ़िल्मों का यदि गहन अध्ययन एवं मूल्यांकन किया जाए तो निष्कर्ष रूप में यह बात सामने आती है कि गुरुदेव एक कालजयी रचनाकार है। 7 अगस्त 1941 को सृजनात्मकता के इस प्रकाश पुंज का देहावसान हो गया था। लेकिन उनके द्वारा रचे गए साहित्य, संगीत, काव्य आदि का कभी भी नाश नहीं हो सकता क्योंकि यह भारतीय संस्कृति की एक अमूल्य धरोहर है। गुरुदेव की रचनाओं पर तो कई समीक्षकों, इतिहासकारों एवं विद्वानों ने बहुत कुछ कहा है, लिखा है, किंतु गुरुदेव की रचना आधारित फ़िल्मों पर काफी कम अध्ययन हुआ है। उनके द्वारा रचे गए रवींद्र संगीत की ओर भी लोगों की अध्ययन दृष्टि नहीं पड़ी है। इस शोध पत्र के माध्यम से गुरुदेव की रचना आधारित फ़िल्मों का परिचय होने के साथ-साथ गुरुदेव के सृजन का सिनेमा जगत

पर जो अविरल प्रभाव पड़ता रहा है उसे भी समझा और देखा जा सकता है। इसके अलावा इस शोध आलेख के माध्यम से साहित्यिक कृति आधारित फ़िल्मों पर अध्ययन हेतु शोधार्थियों को एक नई दिशा प्राप्त होगी। जहाँ तक साहित्यिक कृति आधारित फ़िल्मों का प्रश्न है इस तरह की फ़िल्में वही फ़िल्मकार उत्तम एवं उत्कृष्ट बना सकता है जिसके पास साहित्य एवं सिनेमा इन दोनों ही सृजनात्मक विद्या को जानने समझने की विशेष दृष्टि हो एवं इन विधाओं की निर्माण कला से वह परिचित हो। सत्यजित रॉय, नितिन बोस, बिमल रॉय, तपन सिन्हा, ऋतुपर्णो घोष जैसे फ़िल्मकार ऐसे ही जानकार फ़िल्मकार की श्रेणी में आते हैं। गुरुदेव की रचनाएँ अपने कलात्मक आलोक से उनके दौर में भी सिनेमा जगत को आलोकित कर रही थी और आज भी आलोकित कर रही है। इस तरह गुरुदेव का और उनके सृजन का भारतीय सिनेमा से एक गहरा रिश्ता है।

❖❖

संदर्भ ग्रंथ

1) A Directoery of Bengali Cinema By Paerimal Ray & Kazi Anierban (Published by-The Colouers of Aert-2013) ISBN: 978-93- 5104-826-8

2) Encyclopaedia of Indian Cinema By Ashish Rajadhyaksha & Paul Willemen (Publisher: Tayloer & Ferancis-2014) ISBN: 97811359 43189

3) Best of Rabinderanath (Set of 5 books) (Publisher: Serishti Publishers-2012) ISBN: 9789380349657

4) Selected Stoeries of Rabinderanath Tagoere (Perakash Books Perivate Limited-2020) ISBN: 9390391040

5) Kabuliwala- English (Publisher: Rajpal & Sons-2013) ISBN: 9350641550

6) The Complete Woerk of Rabinderanath Tagoere (Publisher: E- Antnow-2020) ISBN: 9788180320798

7) Der. R.K. Verma- Filmogeraphy Silent Cinema (1913-1934) (Published By: Saeraswati peress Deheradun-2000)

8) Adaptations Some Jouerneys ferom Woerd to Visuals- Edited By Sheri Kerishna Rai & Anugamini Rai (Publisher: Camberidge Scholaers Publishing-2015) ISBN: 9781443884099

9) The Cinema of Satyajit Ray Between Teradition & Modernity - Weritten By: D. Kapooer (Published By: Camberidge University Peress-2000) ISBN:978-0-521-629805-5

10) The Cinema of Satyajit Ray By C Das Gupta (Published By: Penguin India-1996) ISBN: 978-0-14-024780-0

11) योगायोग (प्रकाशक-प्रकाश बुक्स 2019) ISBN: 9789389717587

12) चोखेर बाली (फिंगरप्रिंट पब्लिशिंग -2019) ISBN: 9389053846

13) सिने पुरुष आचार्य किशोर साहू - लेखक: शिवानंद कामड़े - प्रकाशक: श्री प्रकाशन दुर्ग. ISBN: 978-93-80356-09-9

14) महादेव भाई देसाईनी डायरी (गुजराती) - लेखक: महादेव भाई देसाई - प्रकाशक: नवजीवन ट्रस्ट अहमदाबाद ISBN: 978817294455

15) नवनीत समर्पण (गुजराती पत्रिका) 'गांधी 150' विशेषांक - प्रकाशक: भारतीय विद्या भवन 2019 - ISBN: 2455-4162

16) सत्यजित रॉयनी सिनेसृष्टि (गुजराती)- लेखक: डॉ. यासीन दलाल - प्रकाशक: प्रवीण प्रकाशन, राजकोट 1993.

17) फ़िल्म दर्शन - लेखक: डॉ. यासीन दलाल - प्रकाशक: प्रवीण प्रकाशन, राजकोट 1984.

18) रूपांतर (साहित्यथी सिनेमा) - लेखक: अमृत गंगर -

प्रकाशक अरुणोदय प्रकाशन अहमदाबाद 2014.

ISBN:978-93-80468-55-6

19) सत्यजित रॉय द्वारा बनाई गई (रवींद्रनाथ टैगोर-1961) फ़िल्म, फ़िल्म डिवीजन ऑफ इंडिया

20) दूरदर्शन के लिए सन 2000 में दिलीप सरकार द्वारा निर्मित 'द स्टोरी ऑफ न्यू थिएटर्स' 5 एपिसोड की डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म।

साहित्य, सिनेमा और सत्यजित रॉय

● श्री नीरज कुमार

"सत्यजित रॉय की फ़िल्में नहीं देखना वैसा ही है,
जैसे बिना चाँद और सूरज को देखे इस दुनिया में जीना है"

- अकिरा कुरोसावा, जपानी फ़िल्मकार

बहुमुखी प्रतिभा के धनी विश्वविख्यात फ़िल्मकार सत्यजित रॉय का सिनेमा में वही स्थान है जो साहित्य में शेक्सपियर और प्रेमचंद का है। रॉय फ़िल्मकार के साथ-साथ एक लेखक, चित्रकार, संगीतज्ञ, इतिहासविद, कलाकार, संपादक और आलोचक भी थे। सत्यजित रॉय द्वारा बच्चों के लिखी गई कहानियाँ आज भी अत्यंत लोकप्रिय हैं। बांग्ला साहित्य में रॉय का नाम काफ़ी आदर से लिया जाता है। साहित्य के प्रति गहरी रचनात्मक समझ ने ही उन्हें साहित्यिक कृतियों पर फ़िल्म निर्माण के लिए प्रेरित किया। बॉलीवुड में साहित्यिक कृतियों पर फ़िल्म निर्माण की परंपरा बहुत सीमित थी, विशेषकर जब रॉय ने फ़िल्म निर्माण शुरू किया। आगे चलकर सत्तर के दशक में समांतर सिनेमा की शुरुआत के साथ हिंदी सिनेमा में भी साहित्यिक रचनाओं पर फ़िल्मों का निर्माण देखने को मिलता है लेकिन उससे पहले ये नगण्य ही था। साहित्य और सिनेमा में रचनात्मकता को लेकर अक्सर द्वंद्व देखने को मिलता रहा है और दोनों ही कलाओं में श्रेष्ठता की लड़ाई सिनेमा के प्रादुर्भाव से ही चली आ रही है। ऐसे में सत्यजित रॉय की फ़िल्मों पर नज़र डालें तो हम साहित्य और सिनेमा के बीच एक अद्भुत रिश्ता पाते है। रॉय द्वारा निर्देशित ज़्यादातर फ़िल्में साहित्यिक उपन्यासों, कहानियों और नाटकों का ही रूपांतरण हैं। सत्यजित रॉय लेखक होने के साथ ही साहित्य के गंभीर पाठक, संपादक और आलोचक भी थे और यहीं कारण है जो कि रॉय को साहित्यिक कृतियों

पर फ़िल्म निर्माण के दौरान उन्हें साहित्य के प्रति संवेदनशील बना देते है। भारतीय सिनेमा को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान तो महबूब खान, राज कपूर और चेतन आनंद की फ़िल्मों के माध्यम से मिलने लगा था। चेतन आनंद की फ़िल्म 'नीचा नगर' (1946) को कॉन फ़िल्म समारोह में प्रथम पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। चालीस के दशक में भारत में अनेक विषय परक फ़िल्मों का निर्माण भी शुरू हो गया था लेकिन सत्यजित रॉय ने न सिर्फ़ भारतीय सिनेमा को अपितु संपूर्ण भारतीय कलाओं को एक वैश्विक पहचान दिलाई। रॉय ने अपनी पहली ही फ़िल्म 'पाथेर पांचाली' (1955) से विश्व सिनेमा में अपनी एक मज़बूत उपस्थिति दर्ज की। सत्यजित रॉय की इस फ़िल्म ने विश्व के दिग्गज फ़िल्मकारों का ध्यान अपनी ओर खींचा। सत्यजित रॉय ने 'पूत के पाँव पालने में ही दिख जाते है' वाली कहावत को अपनी पहली फ़िल्म से चरितार्थ कर दिया। रॉय के फ़िल्मी सफ़र की

शुरुआत काफ़ी रोचक है। इनके दादा उपेन्द्रकिशोर रॉय प्रसिद्ध बांग्ला लेखक, चित्रकार, दार्शनिक, प्रकाशक और ज्योतिषशास्त्र के ज्ञाता थे। वहीं रॉय के पिता प्रसिद्ध बांग्ला कवि और लेखक थे। रॉय की माता जी भी शास्त्रीय संगीत में पारंगत थीं। इस प्रकार रॉय को बचपन से ही कला, साहित्य, संगीत और दर्शन जैसे विषयों को जानने-समझने का अवसर मिला। रॉय ने स्नातक की शिक्षा कोलकाता के प्रेसिडेंसी कॉलेज से पूरी की और उसके बाद अपनी माता जी के कहने पर शांति निकेतन से शिक्षा प्राप्त की। हालाँकि रॉय पाँच साल के कोर्स को लगभग ढाई साल के बाद ही अधूरा छोड़ कर चले आए। शांति निकेतन में रॉय को रवींद्रनाथ से भी मिलने का मौक़ा मिला। यहाँ पर उनको प्रख्यात चित्रकार नंदलाल बोस और बिनोद बिहारी मुखर्जी का सानिध्य प्राप्त हुआ। आगे रॉय ने स्वीकार किया की शांति निकेतन में बिताए समय का उनके जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी कला की समझ का सारा श्रेय शांति निकेतन को जाता है। शांति निकेतन में उनके शिक्षक रहे बिनोद बिहारी मुखर्जी से सत्यजित रॉय काफ़ी प्रभावित रहे। आगे चलकर रॉय ने बिनोद बिहारी मुखर्जी पर 'द ईनर आय' (1981) नाम से एक वृतचित्र का भी निर्माण किया। रॉय ने अपने पेशेवर जीवन की शुरुआत एक विज्ञापन कंपनी में चित्रकार के रूप में शुरू की या और उस नौकरी के दौरान ही उनको कंपनी की तरफ से प्रशिक्षण के लिए लंदन जाने का मौका मिला। इस यात्रा ने रॉय का जीवन ही बदल दिया। लंदन प्रवास के दौरान रॉय ने लगभग 100 फिल्में देखीं। इन्हीं में वितेरिओ द सिका की इतालवी

नवयथार्थवादी फ़िल्म 'बायसिकल थीव्ज़' (1948) भी शामिल थी। इस फ़िल्म ने रॉय को बहुत गहरे से प्रभावित किया और इस फ़िल्म को देखने के बाद रॉय ने स्पष्ट निर्णय ले लिया कि उनको भविष्य में फ़िल्में ही बनानी हैं और ऐसी ही फ़िल्में बनानी हैं। हालाँकि फ़िल्मों के प्रति रॉय का आकर्षण शुरू से ही रहा और उन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में अनेक फ़िल्में देखी थीं लेकिन फ़िल्म बनाने को लेकर कभी गंभीरता से नहीं लिया।

सत्यजित रॉय ने अपनी फ़िल्मी शिक्षा का श्रेय अनेक फ़िल्मकारों को दिया है जैसे इतालवी फ़िल्म निर्देशक वित्तोरियो द सिका, ज्याँ रेनुआ, वरिष्ठ हॉलीवुड निर्देशक जॉन फोर्ड, बिली वाइल्डर, अर्न्स्ट लुबित्सक आदि। रॉय ने ज्याँ रेनुआ के साथ उनकी फ़िल्म 'द रिवर' में सहायक के तौर पर कोलकाता शूटिंग के दौरान काम किया था और उनके लिए व्यवहारिक तौर पर फ़िल्म निर्देशन सीखने का कुल इतना ही अनुभव था जिसके बाद रॉय ने अपनी महान क्लासिक फ़िल्म 'पाथेर पांचाली' का निर्देशन किया। सत्यजित रॉय ने अपने फ़िल्मी स़फर में कुल मिलकर 37 फ़िल्में, लघु फ़िल्में और वृतचित्रों का लेखन-निर्देशन किया। इनमे 29 फ़ीचर फ़िल्में हैं और इनमें मात्र 2 फ़िल्में हिंदी में है बाक़ी सभी फ़िल्में बांग्ला में है। रॉय को अपनी पहली फ़िल्म बनाने में लगभग पाँच साल का समय लग गया। सन 1955 में 'पाथेर पांचाली' प्रदर्शित हुई और इस फ़िल्म ने पूरे विश्व में रॉय को एक उम्दा फ़िल्म निर्देशक के रूप में स्थापित कर दिया। यह फ़िल्म प्रख्यात बांग्ला साहित्यकार बिभूतिभूषण बंदोपाध्याय के इसी नाम के उपन्यास पर बनी थी। फ़िल्म समीक्षकों ने इस फ़िल्म को मानव संवेदनाओं का दस्तावेज़ क़रार दिया। इस फ़िल्म को निर्देशित करने से पहले रॉय ने कभी भी किसी भी तरह की छोटी या बड़ी फ़िल्म या फ़िल्म का कोई सीन तक निर्देशित नहीं किया था और ऐसा ही फ़िल्म के छायाकार सुब्रत मित्र के साथ भी था। मित्र इस फ़िल्म से पहले फ़ोटोग्राफी किया करते थे। उनको सिनेमा का कोई अनुभव नहीं था इसीलिए शूटिंग से पहले उन्होंने एक 16 एम. एम. कैमरा ख़रीद कर उसपर फ़िल्मांकन का अनुभव प्राप्त किया। फ़िल्म के ज़्यादातर कलाकारों ने कभी भी फ़िल्मों में काम नहीं किया था। 'पाथेर पांचाली' उपन्यास पर रॉय की नज़र 1945 में उस व़क्त पड़ी थी जब वह बच्चों के लिए इस किताब के बाल संस्करण के लिए चित्रकारी कर रहे थे। इस फ़िल्म के निर्माण से पहले ही बिभूतिभूषण बंदोपाध्याय की मृत्यु हो गई थी अत: फ़िल्म बनाने के लिए ज़रूरी अनुबंध उनकी विधवा पत्नी से किया गया। पटकथा का रूप देते समय रॉय ने उपन्यास के अनेक हिस्सों को संपादित किया या फिर फ़िल्म की ज़रूरत के हिसाब से उसमें बदलाव किए। फ़िल्म में अनेक दृश्यों को रॉय ने अपनी सिनेमाई दृष्टि प्रदान की है। इनमें मुख्य रूप से रेलगाड़ी के जाने का प्रसिद्ध दृश्य। उपन्यास में रेलगाड़ी का खेतों के बीच से गुज़रने का दृश्य है जिसे अप्पू और दुर्गा देखते हैं जबकि फ़िल्म में अप्पू और दुर्गा को कास के पौधों के बीच में रखा है जहाँ से वे दोनो ट्रेन को जाते हुए देखते हैं। रॉय ने अपनी फ़िल्म भाषा के निर्माण में लिखित भाषा को कभी भी नज़र-अंदाज़ नहीं किया बल्कि उनको फ़िल्मी

चित्रात्मक भाषा में बदलते समय कैसे और प्रभावी बनाया जाए इसके लिए सदैव प्रयासरत रहे। रॉय की फ़िल्मों में सांकेतिक भाषा का प्रयोग भी अद्भुत रूप से देखने को मिलता है। इसका एक उदाहरण है 'पाथेर पांचाली' में बुढ़िया दादी की मृत्यु का दृश्य। यहाँ हम देखते है कि जब दादी के प्राण छूटते है तब एक लोटे को लुढ़कते हुए दिखाया गया है। इस एक शॉट से रॉय बिना किसी संवाद और अन्य किसी दृश्य के सब कुछ दर्शकों से कह देते है। ग़ैर पेशेवर कलाकारों से इतना उम्दा अभिनय सत्यजित रॉय जैसा फ़िल्मकार ही करवा सकता था। इस फ़िल्म में प्रत्येक फ्रेम अपने आप में पूर्ण है। 'पाथेर पांचाली' सेल्युलाइड पर रचा गया एक महाकाव्य है जिसे प्रत्येक सिनेमा प्रेमी को अवश्य देखना चाहिए। प्रकाश और छाया का इतना बेहतर इस्तेमाल गिनी-चुनी फ़िल्मों में देखने को मिलता है। 'पाथेर पांचाली' के बाद अपू त्रयी के अंतर्गत रॉय ने दो और फ़िल्मों का निर्देशन किया जो बिभूतिभूषण बंदोपाध्याय के इसी उपन्यास का विस्तार थीं। ये फ़िल्में थी 'अपराजितो' (1956) और 'अपूर संसार' (1959)। ये दोनों फ़िल्में कितनी महान थी यह तो समीक्षकों और दर्शकों के बीच अभी तक चर्चा का विषय रहा है लेकिन इनमें रॉय की विशेष सिनेमा शैली स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इसका एक उत्तम उदाहरण है 'अपूर संसार' का एक दृश्य। 'अपूर संसार' में एक दृश्य है जहाँ पर अप्पू का साला उसको आकर बताता है कि अप्पू की पत्नी की प्रसव के दौरान मृत्यु हो गई है और अप्पू बिना कुछ कहे-सुने उसे एक ज़ोर का थप्पड़ मारता है। यहाँ थप्पड़ के माध्यम से रॉय ने यह बात कह दी है कि मानव कभी भी कड़वे सच को आसानी से नहीं स्वीकारता या फिर मानना ही नहीं चाहता। 'अपूर संसार' का यह दृश्य सिनेमा इतिहास में सिनेमाई दृश्यकला का एक असाधारण उदाहरण है। 'अपराजितो' के साथ छायांकन के क्षेत्र में बड़ा आविष्कार देखने को मिलता है। सिनेमा इतिहास में बाउन्स लाइट का प्रयोग सुब्रत मित्र ने सबसे पहले इसी फ़िल्म में किया। फ़िल्मों में दृश्य प्रकाश के लिए बाउन्स लाइट का सिद्धांत विश्व सिनेमा को सुब्रत मित्रा ने दिया। यह सिनेमा जगत के लिए एक बड़ी खोज के रूप में जाना जाता है। सत्यजित रॉय की फ़िल्मों में एक-एक चीज़ जो कि फ्रेम में मौजूद है उसका निश्चित कारण है। वह चाहे मेज़-कुर्सी हो या फिर रेलगाड़ी हो या लैम्प पोस्ट। रॉय फ्रेम में दिखनेवाली हर वस्तु पर नज़र रखते थे। बंगाल की ग्रामीण और शहरी संस्कृति और परिवेश को रॉय ने जितनी बारीक़ी और ख़ूबसूरती से प्रस्तुत किया है वह पहले कभी देखने को नहीं मिलता। रॉय के शब्दों में - रेनुआ ने मुझे बताया था, 'फ़िल्म में बहुत ज़्यादा तत्व आवश्यक नहीं होते, लेकिन जिन्हें शामिल करो, वे सही और स्पष्ट होने चाहिए।' रॉय ने इस बात का आजीवन ध्यान रखा। रॉय अक्सर कहते थे कि फ़िल्म में तकनीक का इस्तेमाल बहुत आवश्यक है लेकिन तकनीक को कला पर कभी हावी नहीं होने देना चाहिए। अप्पू त्रयी में महान संगीतज्ञ रविशंकर ने संगीत दिया था। कला निर्देशक के रूप में बंसी चंद्रगुप्त ने कमाल का काम किया था। 'अपूर संसार' से ही रॉय और अभिनेता सौमित्र चटर्जी का फ़िल्मी सफ़र शुरू हुआ

जो आजीवन चलता रहा। अप्पू त्रयी बनाने के बीच में सत्यजित रॉय ने दो फ़िल्में 'पारस पत्थर' (1958) और 'जलसाघर' (1958) का निर्माण किया। पारस पत्थर राजशेखर 'परशुराम' बासु की कहानी का रूपांतरण थी जबकि 'जलसाघर' ताराशंकर बैनर्जी की कहानी पर बनी थी। रॉय की कॉमेडी की समझ और उनकी कॉमेडी फ़िल्म के बारे में बहुत कम लोग चर्चा करते हैं। पारस पत्थर रॉय द्वारा बनाई गई बेहतरीन कॉमेडी फ़िल्मों में से एक है। यह फ़िल्म हास्य, फ़ंतासी, व्यंग्य, फ़रेब जैसे तत्वों को मिलाकर बनाई गई थी। ये सभी तत्व फ़िल्म के नायक परेशचंद्र दत्ता के चरित्र में मिलते है। फ़िल्म में नायक की भूमिका में तुलसी चक्रवर्ती चैप्लिन की याद दिलाते हैं। पूरी फ़िल्म में वह अपनी मेंढक जैसी आँखों से अभिनय का एक नया रूप प्रस्तुत करते हैं जैसा कि चैप्लिन अपनी मूँछों से किया करते थे। 'पारस पत्थर' कहानी के लेखक परशुराम उन्नीस सौ बीस के दशक से ही बंगाल के घर-घर में एक जाना-पहचाना नाम थे। 'जलसाघर' ढहती हुई सामंतवादी व्यवस्था और ज़मींदारों के बिखरते साम्राज्य को दर्शाती है। यह एक ऐसे ज़मींदार की कहानी है जो अतीत में जी रहा है और अंत में अपनी ही अहंमन्यता से बर्बाद हो जाता है। 'जलसाघर' रॉय के बढ़िया निर्देशन के अलावा छबी बिस्वास के अप्रतिम अभिनय के लिए जानी जाती है हालाँकि फ़िल्म को कुछ समीक्षकों ने काफ़ी थकाऊ बताया था। फ़िल्म में गीत-संगीत के इस्तेमाल की बहुत प्रशंसा हुई। फ़िल्म में प्रसिद्ध सितार वादक विलायत हुसेन खाँ का संगीत था। भारत में यह फ़िल्म उतनी सफल नहीं रही लेकिन

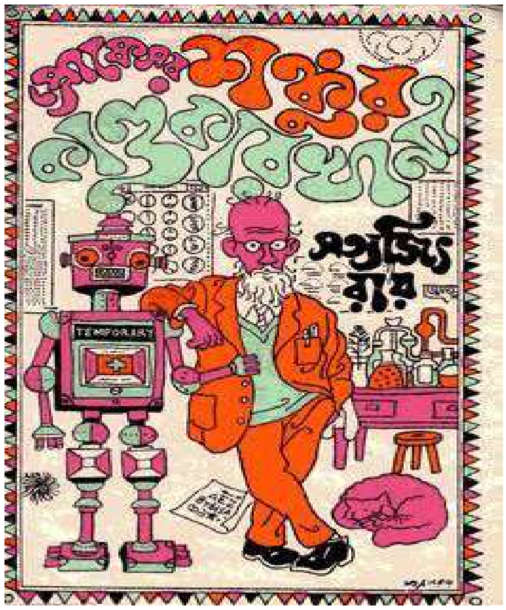

विदेशों में व्यवसायिक दृष्टि से तो सफल रही ही, इसे रॉय की बेहतरीन फ़िल्म में शुमार किया गया। हालाँकि रॉय की ये दोनो ही फ़िल्में कम चर्चित रही हैं।

सन 1960 से 1980 के बीच का समय रॉय के लिए फ़िल्म निर्माण को लेकर सबसे व्यस्त और स्वर्णिम भी रहा है। इन दो दशकों में रॉय ने लगभग हर साल एक फ़िल्म बनाई। इन्हीं दो दशकों में रॉय ने अपनी सबसे पसंदीदा फ़िल्म 'चारुलता' (1964) बनाई। चारुलता, रवींद्रनाथ ठाकुर की कहानी 'नष्टनीड' पर आधारित है। इस कहानी के बारे में यह भी कहा जाता है कि यह रवींद्रनाथ ठाकुर के जीवन का ही हिस्सा है। बहरहाल चारुलता की सबसे विशेष बात है इस फ़िल्म का आरंभिक दृश्य। फ़िल्म के आरंभ के लगभग सात-आठ मिनट की कहानी मूल कहानी में नहीं है। शुरू के दृश्यों को रॉय ने फ़िल्म की पटकथा लिखते समय स्वयं विकसित की और इस प्रकार मूल कहानी में

समाहित किया। जिसने मूल कहानी भी पढ़ी है वह भी इस बात को चिह्नित नहीं कर पाए। इसमें रॉय शुरू के कुछ मिनटों में ही आगे की पूरी कहानी और घटनाक्रम का ताना बाना रच देते हैं। आरंभिक 8-10 मिनट में ही रॉय चारुलता के एकाकीपन को घूमते हुए कैमरे से बहुत ही संवेदनशीलता के साथ चित्रित कर देते हैं। यहाँ मूलरूप से शुरू के दृश्यों में कैमरा नहीं घूम रहा है अपितु वह चारुलता का अकेलापन पूरे घर में घूम रहा है। यहाँ स्थान भी एक चरित्र हैं। कैमरे का बेचैनी से घूमना, चारुलता का कैमरे में आना-जाना, यह सब एक अद्भुत दृश्य रचते है। किसी की ज़िंदगी का सूनापन बिना एक संवाद बोले इतनी ख़ूबसूरती से शायद ही किसी फ़िल्म में चित्रित किया गया है। हॉलीवुड की प्रसिद्ध फ़िल्म आलोचक पेनेलोप ह्यूस्टन के शब्दों में 'चारुलता में परिष्कार और सरलता की परस्पर क्रिया असाधारण है।' चारुलता की धीमी गति के बारे में अनेक समीक्षकों ने आलोचना की। जबकि सत्यजित रॉय ने अनेक मौक़ों पर चारुलता को अपनी सबसे पसंदीदा फ़िल्म बताया है और कहा है कि अगर उन्हें इस फ़िल्म को फिर कभी दुबारा बनाने का मौक़ा मिला तो बिलकुल ऐसा ही बनाएँगे बिना किसी बदलाव के। जब रॉय जैसा पूर्णतावादी व्यक्ति ऐसी बात कहता है तब हमें समझ लेना चाहिए कि 'चारुलता' एक फ़िल्म के रूप में कितनी मुकम्मल है। यह फ़िल्म भारतीय सिनेमा के लिए एक उपलब्धि है। हालाँकि इसको कान फ़िल्म समारोह में शामिल करने से अस्वीकार कर दिया गया था जबकि बर्लिन फ़िल्म समारोह में फ़िल्म ने सर्वश्रेष्ठ निर्देशन का पुरस्कार जीता। चारुलता में हम रॉय की सिनेमाई कलात्मक प्रतिभा का चरमोत्कर्ष देखते हैं।

अप्पू त्रयी और चारुलता (1964) के बीच के समय में रॉय ने 'देवी' (1960), 'तीन कन्या' (1961) 'कंचनजंघा' (1962), 'अभिजन' (1962) और 'महानगर' (1963), का निर्माण किया। 'देवी' प्रभात कुमार मुखर्जी की कहानी पर आधारित थी। यह फ़िल्म सदियों से चली आ रही हिंदू धर्म में व्याप्त रूढ़ियों को चित्रित करती है। यह फ़िल्म शर्मिला टैगोर के बेहतरीन अभिनय के लिए भी जानी जाती है। शर्मिला टैगोर ने रॉय की कई फ़िल्मों में अभिनय किया। उनके अनुसार सत्यजित रॉय बड़ी आसानी से मुश्किल से मुश्किल काम करवा लेते थे। रॉय को इस फ़िल्म के विषय को ले कर डर था कि सेन्सर बोर्ड इसे पास करने में मुश्किलें खड़ी करेगा लेकिन ऐसा हुआ नहीं। तीन कन्या (1961) रॉय की रवींद्रनाथ टैगोर के शताब्दी वर्ष में उनको श्रद्धांजलि थी। तीन कन्या टैगोर की तीन कहानियों 'पोस्टमास्टर', 'मोनीहारा' और 'समाप्ति' पर आधारित है। तीनों फ़िल्मों के केंद्र में थी महिला पात्र। 'पोस्टमास्टर' में गाँव की एक परित्यक्ता स्त्री की कहानी है जबकि 'मोनिहारा' में एक अमीर व्यवसायी की संतानहीन पत्नी की कहानी है वहीं 'समाप्ति' में गाँव के एक अल्हड़ लड़की की कहानी है। 'पोस्टमास्टर' हास्य-व्यंग्य से भरी मर्मस्पर्शी कहानी है, 'मोनिहारा' एक परिष्कृत भूत की कहानी है जबकि 'समाप्ति' पूर्णरूप से एक कॉमेडी फ़िल्म है। एक साथ लगातार इतनी विविधता और गुणवता के साथ तीन फ़िल्मों का समांतर निर्माण रॉय जैसा ही मँझा हुआ

फ़िल्मकार कर सकता है। फ़िल्म को वाइड ऐंगल लेन्स पर शूट किया गया था। प्रख्यात फ़िल्मकार ज्याँ रेनुआ को इसमें 'पोस्ट मास्टर' फ़िल्म बहुत पसंद आई थी। उन्होंने इसे एक उच्च कोटि का मानवतावादी सिनेमा बताया था। 1962 में आई 'अभिजन' ताराशंकर बैनर्जी की कहानी पर आधारित है जबकि 1963 में आई 'महानगर' नरेंद्रनाथ मित्र की कहानी 'अबतरणिका' का रूपांतरण है। 'महानगर' रॉय की पहली फ़िल्म थी जिसमें उन्होंने समकालीन कोलकाता के मध्यम वर्ग की ग़रीबी और जीवन संघर्ष को चित्रित किया है। महानगर कहानी है दो पीढ़ियों की, जहाँ पुरानी पीढ़ी अभी भी अपने रूढ़िगत विचारों में बँधी हुई है, जहाँ औरत का घर से निकलना समाज में बुरा माना जाता है वहीं नई पीढ़ी इन सभी विचारों को ख़ारिज करती है। वह अपने आधुनिक विचारों से अपने सामाजिक और आर्थिक हालात को बदलना चाहती है। फ़िल्म के केंद्र में है एक युवा महिला जिसकी प्रतिभा को झूठे सामाजिक मानदंडों के कारण बर्बाद किया जा रहा है। माधवी मुखर्जी का बेहतरीन अभिनय फ़िल्म को एक नई ऊँचाई प्रदान करता है। फ़िल्म में सेट निर्माण का कमाल देखने को मिलता है। आर्ट डिरेक्शन की दृष्टि से ये रॉय की बेहतरीन फ़िल्मों में से है। महानगर का अंतिम शॉट क़ाबिले-तारीफ़ है जहाँ हम कैमरा को क्रेन के माध्यम से ऊपर जाते देखते हैं, धीरे- धीरे क्लोज़-अप शॉट वाइड ऐंगल में बदल जाता है। फ़िल्म के नायक-नायिका जो कि कैमरा के आगे चल रहे होते हैं, कोलकाता शहर की भीड़ में ग़ायब हो जाते है। ऐसा लगता है जैसे शहर की भीड़ ने उनको निगल लिया। कैमरा टिल्ट-अप होकर और ऊपर की तरफ जाता है और एक लैम्प पोस्ट पर जाकर रुक जाता है, लैम्प पोस्ट का एक बल्ब टूटा हुआ है और एक ठीक है जो कि नाउम्मीदी में उम्मीद की झलक दिखाता है।

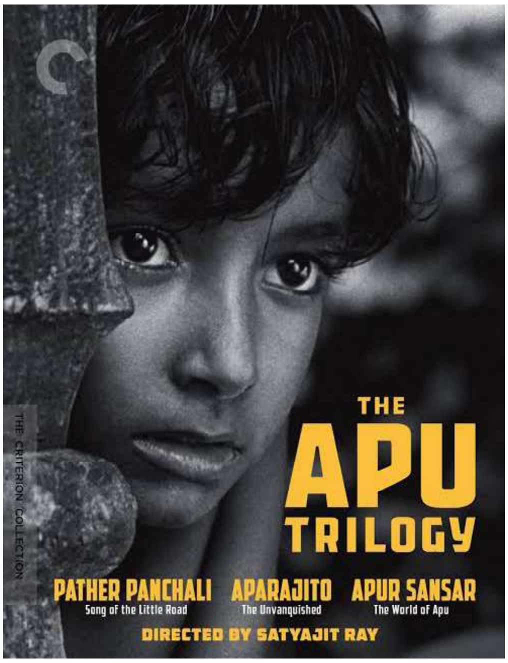

चारुलता के निर्माण के बाद 1965 से 1980 के बीच सत्यजित रॉय फ़ंतासी, हास्य-व्यंग्य, विज्ञान, जासूसी और ऐतिहासिक विषयों पर फ़िल्मों का निर्माण करते हैं। 'कापुरुष ओ महापुरुष' (1965), 'चिड़ियाखाना' (1967), 'गोपी गाइन बाघा बाइन' (1969), 'अरण्येर दिनरात्रि', 'प्रतिद्वंद्वी' (1970), 'सीमाबद्ध' (1971), 'अशनी संकेत'(1973), 'सोनार केल्ला' (1974), 'जनअरण्य' (1975), 'शतरंज के खिलाड़ी' (1977), जॉय बाबा फेलूनाथ (1979) इस समय में रॉय द्वारा निर्देशित फ़िल्में है। 'कापुरुष' प्रेमेंद्र मित्र की कहानी 'जनाइको कापुरुसेर कहिनी' और 'महापुरुष' परशुराम की कहानी 'बरिंचि बाबा' पर आधारित है। कापुरुष

में जहाँ रोमाँस और ड्रामा देखने को मिलता है वहीं महापुरुष एक हास्य प्रधान फ़िल्म है। यह रॉय की पहली फ़िल्म थी जिसको हिंदी में डब करके बंगाल के बाहर भी प्रदर्शित किया गया था। 'महापुरुष' प्रहसन के क़रीब होते हुए भी एक समृद्ध फ़िल्म पटकथा है जिसे कलाकारों ने बहुत ही आत्मीयता और आनंद के साथ निभाया है। हालाँकि रॉय की अन्य फ़िल्मों की अपेक्षा इसमें संवादों की अधिकता है। केनिथ टयनन ने द ऑब्ज़र्वर में इसकी प्रशंसा की थी लेकिन बांग्ला साहित्य प्रेमियों ने फ़िल्म की आलोचना की थी क्योंकि फ़िल्म की पटकथा में मूल रचना की अपेक्षा अनेक बदलाव किए गए थे। 1969 में रॉय ने अपने दादा उपेन्द्रकिशोर की कहानी पर 'गोपी गाइन बाघा बाइन' बनाई। रॉय जब ये फ़िल्म बना रहे थे तब बांग्ला फ़िल्म उद्योग मुश्किल समय में था। रॉय को बहुत मेहनत करनी पड़ी इस फ़िल्म के लिए निर्माता ढूँढ़ने में। अंतत: पैसे की कमी के कारण फ़िल्म को ब्लैक एंड व्हाइट बनाना पड़ा लेकिन पटकथा की माँग को देखते हुए फ़िल्म का अंतिम दृश्य रंगीन रखना पड़ा, जहाँ पर दोनों चरित्रों की इच्छा पूरी होती है। फ़िल्म की कहानी बड़ी ही रोचक है। गोपी और बाघा क्रमश: गायक और वादक बनना चाहते हैं लेकिन दोनों इतने बेसुरे हैं कि गाँव के लोग इनको भगा देते है और ये जंगल में पहुँचते हैं। वहाँ वे अपना बेसुरा संगीत जारी रखते हैं। इनके बेसुरे संगीत को सुन कर जंगल में मौजूद एक भूत इनसे ख़ुश होता है और इनको वरदान देता है। जिससे ये सुरीले संगीतज्ञ बन जाते है। हास्य से लबरेज़ यह फ़िल्म बांग्ला की सबसे सफलतम फ़िल्मों में शुमार है। इसमें गीत और संगीत रॉय ने स्वयं दिया था। अमेरिकन लेखक और फ़िल्म आलोचक फिल हॉल ने फ़िल्म की तारीफ़ करते हुए लिखा है कि- 'यह फ़िल्म एक सुखद आश्चर्य के रूप में रॉय की तरफ़ से आई है। फिल्म में हास्य का पुट कमाल का है साथ ही गीत और संगीत अत्यंत ही उम्दा और मनोरंजक है। रॉय ने फ़िल्म की सफलता के बारे में प्रसिद्ध लेखिका और आलोचक मैरी सीटॉन को लिखा था कि - कब यह फ़िल्म बंगाल की संस्कृति का हिस्सा बन गई पता ही नहीं चला। यहाँ का हर बच्चा इस फ़िल्म का गाना गा रहा हैं। 'हीरक राजार देसे' (1980) और 'गूपी बाघा फिरे एलो' (1991), इस फ़िल्म की कड़ी का हिस्सा है। इसमें 'हीरक राजार देसे' को रॉय ने स्वयं निर्देशित किया था जबकि 'गूपी बाघा फिरे एलो' को उनके पुत्र संदीप रॉय ने निर्देशित किया। ये दोनों फ़िल्में रॉय की मूल पटकथा पर बनी है।

सत्यजित रॉय द्वारा निर्देशित 'चिड़ियाखाना' (1967), 'सोनार केल्ला' (1974) और 'जॉय बाबा फेलुनाथ' (1978) जासूसी फ़िल्में हैं। ये फ़िल्मे रॉय की बचपन से ही शेरलाक होम्स के प्रति प्रेम का परिणाम हैं। रॉय शेरलाक होम्स की जासूसी कहानियों से इतने अधिक प्रभावित थे कि जब वे फ़िल्म निर्माण में आए तो जासूसी फ़िल्म बनाने से ख़ुद को बचा नहीं पाए। 'चिड़ियाखाना' बांग्ला लेखक 'सरदिंदु बैनर्जी' के उपन्यास पर आधारित है। रॉय की यह पहली जासूसी फ़िल्म थी। दूरदर्शन पर चर्चित ब्योमकेश बक्शी इसी कहानी के चरित्र का हिंदी अनुकरण है। चिड़ियाखाना की कहानी एक मर्डर मिस्ट्री है। मुरारी नामक एक

व्यक्ति की हत्या हो जाती है और उसका इल्ज़ाम उसकी प्रेमिका सुनैना पर लगता है। आगे की कहानी मर्डर की जाँच के आस-पास चलती है। 'चिड़ियाखाना' रॉय की सस्पेन्स थ्रिलर कहानी पर ज़बरदस्त पकड़ को दर्शाती है। इस फ़िल्म की पटकथा एकदम चुस्त है। रॉय ने स्वयं लिखा है कि यह फ़िल्म बनाते व़क्त मैंने पूरी कोशिश की थी कि फ़िल्म की संरचना बांग्ला रहे। यह फ़िल्म जेम्स बॉंड को पसंद करनेवाले दर्शकों के लिए नहीं थी। हालाँकि रॉय ने यह स्वीकार किया है कि यह फ़िल्म वैसी नहीं है जैसा मैं बनाना चाहता हूँ। कलात्मक रूप से इसमें अनेक ख़ामियाँ रह गई। सत्यजित रॉय की यह फ़िल्म ग़ैर बांग्ला दर्शकों के बीच सबसे कम पसंद की जानेवाली फ़िल्मों में से है। सन 1974 में आई 'सोनार केल्ला' रॉय के स्वयं के उपन्यास का रूपांतरण थी। इस फ़िल्म का निर्माण बंगाल सरकार ने किया था। यह फ़िल्म मशहूर हॉलीवुड निर्देशक हिचकॉक की फ़िल्म शैली से काफ़ी प्रभावित थी। जहाँ फ़िल्म में दर्शक को पहले पता चल जाता है कि अपराधी कौन है जबकि फ़िल्म में जाँच को अंजाम दे रहे जासूस को बाद में। फ़िल्म में सस्पेंस बनाए रखने के लिए प्लॉट से ज़्यादा वरीयता चरित्रों को दी गई थी। फ़िल्म में सभी अभिनेताओं का अभिनय कमाल का था विशेष रूप से कौशल चक्रवर्ती का। इस फ़िल्म की शूटिंग राजस्थान में हुई थी। रॉय की तीसरी जासूसी फ़िल्म थी 'जॉय बाबा फेलूनाथ' जो एक बार फिर रॉय के ही उपन्यास पर आधारित थी। 'सोनार केल्ला' के ज़्यादातर फ़िल्मी तत्व इस फ़िल्म में मौजूद थे। बस यह फ़िल्म बनारस में स्थापित थी। फ़िल्म की कहानी कुछ इस तरह है -शहर में एक बांग्ला परिवार है। उनके पास एक सोने की गणपति की मूर्ति है जो चोरी हो जाती है। इस मूर्ति पर शहर के ही एक मारवाड़ी की नज़र रहती है। इसी बीच एक हत्या भी हो जाती है। इन्ही सब घटनाओं को आपस में एक-दूसरे से गूँथ कर रॉय ने एक चुस्त और मनोरंजक सस्पेन्स थ्रिलर ड्रामा का रूप दिया है। हालाँकि इस फ़िल्म की तुलना अगर 'सोनार किल्ला' से की जाए तो यह एक निराशाजनक फ़िल्म है। रॉय ने फ़िल्म में चाकू फेंकने के दृश्य को स्वयं के लिए बहुत ही रोमांचकारी बताया था। रॉय इस फ़िल्म को जब बनारस के बांग्ला टोला में शूट करने के लिए गए तो इतनी भीड़ इकट्ठा हो गई कि उन्हें शूटिंग रोक देनी पड़ी। काफ़ी मुश्किल से दूसरे दिन थोड़ी बहुत शूटिंग हो पाई बाक़ी के सीन रॉय ने कोलकाता के स्टूडिओ में शूट किए। फ़िल्म में कुछ सीन ब्लैक कामेडी के बेहतरीन उदाहरण है। मछली बाबा का चरित्र अपने-आप में ही एक चोर के रूप में काफ़ी भयावह चरित्र है जो दर्शकों के बीच उत्सुकता, भय और आनंद एक साथ उत्पन्न करता है।

सत्यजित रॉय ने सुनील गांगुली के उपन्यास पर 'प्रतिद्वंद्वी' (1970) और मणिशंकर मुखर्जी के उपन्यास 'सीमाबद्ध' (1971) और 'जनअरण्य' (1975) का निर्माण किया। ये तीनो ही फ़िल्में समकालीन कोलकाता के हालात को चित्रित करती हैं। इन फ़िल्मों में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक हालात, बंगाल में व्याप्त नक्सल आंदोलन, भ्रष्टाचार, राष्ट्रव्यापी आपातकाल, बड़े पैमाने पर सरकारी दमन, बांग्लादेश युद्ध और शरणार्थी संकट को

बहुत ही मार्मिक तरीक़े से पूरी सच्चाई के साथ प्रस्तुत किया गया है। प्रतिद्वंद्वी में एक पढ़ा लिखा प्रतिभाशाली युवक नौकरी के लिए असफल कोशिश कर रहा है वहीं सीमाबद्ध में एक नौकरी पेशा युवक पदोन्नति पाने के लिए कुछ भी करने को तैयार है जबकि जनअरण्य में नायक एक व्यवसायी के रूप में ख़ुद को खड़ा करने के लिए प्रयासरत है। हम यहाँ देखते है कि ऐसे ही मुद्दे पर मुंबई में भी फ़िल्में बन रही थीं। वे चाहे बेरोज़गारी का विषय हो या समाज से विमुख हुआ कोई युवा हो या फिर देश की राजनीति से और असंतुलित आर्थिक विकास से नाराज़ मनुष्य। सत्तर के दशक में ये सभी विषय जनता को सबसे ज़्यादा उद्वेलित कर रहे थे और फ़िल्मकार इन सवालों के जवाब अपनी फ़िल्मों में ढूँढ रहे थे। रॉय भी अपनी फ़िल्मों से इन्हीं मुद्दों की तरफ़ सरकार का ध्यान आकर्षित करने की कोशिश कर रहे थे। प्रतिद्वंद्वी समकालीन रचना थी और इसके लेखक सुनील गांगुली के बारे में रॉय लिखते हैं कि वर्तमान समय में इनकी रचनाओं की सबसे ज़्यादा माँग है, फ़िल्मकारों को इसका लाभ उठाना चाहिए। इनकी रचनाएँ दृश्यों से समृद्ध है। इनकी रचनाओं में चरित्र, घटनाएँ, रिश्ते बहुत ही संवेदनशीलता के साथ और बाहरी विवरणों को समाहित करके रचे गए हैं जो कि फ़िल्म पटकथा की मौलिक ज़रूरत हैं। प्रतिद्वंद्वी उस समय की काफ़ी चर्चित रचना थी जिसे रॉय ने पढ़ने के दो महीने के भीतर ही इस पर फ़िल्म निर्माण का काम शुरू कर दिया था। रॉय ने जो मूल बदलाव पटकथा में किया था वह था मुख्य नायक का चरित्र। उपन्यास में मुख्य नायक सिद्धार्थ उन्नीस साल का युवा है जबकि फ़िल्म में नायक ज़्यादा परिपक्व, समझदार और बुद्धिजीवी है। सत्यजित रॉय ने 'प्रतिद्वंद्वी' को अपनी सबसे भड़काऊ फ़िल्म कहा है। रॉय की कोलकाता कड़ी की दूसरी फ़िल्म है, 'सीमाबद्ध'। यह फ़िल्म तेज़ी से बदलते कोलकाता और वहाँ विकसित हो रहे कॉरपोरेट संस्कृति, समाज में बढ़ रहे झूठ-फ़रेब और इंसानी भागदौड़ की ज़िंदगी को चित्रित करती है। फ़िल्म तेज़ी से हो रहे आधुनिकीकरण और उसके प्रभाव को प्रस्तुत करती है। समकालीन नक्सल समस्या और विद्यार्थियों और युवाओं के वामपंथ की तरफ आकर्षण को भी फिल्म में दिखाया गया है। कोलकाता कड़ी की तीसरी फ़िल्म है 'जनअरण्य'। यह फ़िल्म एक आदर्शवादी युवा की कहानी है। किस प्रकार नौकरी पाने में असफल होने पर वह व्यवसाय की दिशा में बढ़ता है और वहाँ पर भी भ्रष्टाचार और कालाबाज़ारी आदि समस्याओं को सामने पाता है। वह अपने आप को अनैतिक व्यवहारों में शामिल पाता है, जो उसकी परवरिश के विपरीत है। फ़िल्म में मुख्य नायक अपने व्यवसाय के सिलसिले में एक दिन एक गंभीर परिस्थिति का सामना करता है। होता यह है कि उसको एक कॉन्ट्रैक्ट पाने के लिए सामनेवाले व्यक्ति को ख़ुश करने के लिए एक वेश्या की व्यवस्था करनी है। ऐसे में वह एक लड़की ढूँढता है लेकिन बाद में उसको पता चलता है कि जिसे उसने ढूँढ़ा है वह लड़की उसके दोस्त की बहन है जो पैसे के लिए यह सब करती है। हालाँकि वह उस लड़की की सेवा लेता है लेकिन उसे काफ़ी शर्मिंदगी होती है। चूँकि कहानी की कुछ ऐसी माँग थी जिसके

कारण रॉय ने इन तीनों फ़िल्मों को ब्लैक एंड व्हाइट में बनाया था। समकालीन मुद्दों पर रॉय द्वारा बनाई गई ये तीनों फ़िल्में रे की सिनेमा-दृष्टि को पूरी सच्चाई के साथ बयाँ करती है।

साहित्य और सिनेमा के अनमोल रिश्ते ही है जिसके कारण साहित्य जगत के महान लेखक प्रेमचंद और भारतीय सिनेमा जगत के युग पुरुष सत्यजित रॉय का सिनेमाई परदे पर संगम देखने को मिलता है। रॉय ने अपने संपूर्ण फ़िल्मी जीवन में हिंदी साहित्य की दो कहानियों पर फ़िल्में निर्देशित कीं। दोनों ही कहानियाँ प्रेमचंद की थीं। 1977 में बनी शतरंज के खिलाड़ी और 1981 में बनी सद्गति। रॉय द्वारा इन दोनों कहानियों पर फ़िल्म निर्माण करना इस बात को स्पष्ट करता है कि वे प्रेमचंद की कहानी कला से किस हद तक प्रभावित थे। रॉय के अनुसार प्रेमचंद की रचनाओं में संवेदनशीलता का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है। प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में मानव प्रकृति के सबसे दिलचस्प और अत्यधिक कुरूप पहलुओं को बड़ी ही संजीदगी से उजागर किया है और ऐसे ही तत्त्व हम रॉय की फ़िल्मों में भी देखते हैं। यही कारण है जिन्होंने रॉय को प्रेमचंद की रचनाओं पर फ़िल्म निर्माण करने के लिए प्रेरित किया। 'शतरंज के खिलाड़ी' सामंतवाद के पतन की कहानी है, वहीं सद्गति समाज में व्याप्त जातिगत छुआ-छूत की समस्या को चित्रित करती है। ये कहानियाँ साहित्य जगत में जितनी चर्चित रहीं उतनी ही फ़िल्म इतिहास में भी। बांग्ला साहित्यकार सुनील गांगुली ने सद्गति को रॉय की क्रूरतम फ़िल्म बताया है। शतरंज के खिलाड़ी फ़ीचर फ़िल्म थी जबकि सद्गति को रॉय ने दूरदर्शन के लिए टेलीफिल्म के रूप में बनाया था और इसका प्रसारण टेलीविज़न पर हुआ था। शतरंज के खिलाड़ी के कलात्मक पहलुओं पर बात करते हुए रे का कहना था कि अगर उन्हें हिंदी भाषा का अच्छा ज्ञान होता तो यह फ़िल्म इससे दस गुना बेहतर बनती। शतरंज के खिलाड़ी रॉय द्वारा बनाई गई सबसे महँगी फ़िल्मों में से एक है। शतरंज के खिलाड़ी की पटकथा और संवाद ने अंग्रेज़ी में लिखे थे और हिंदी और उर्दू के संवादों के लिए उन्होंने जावेद सिद्दीक़ी और शमा ज़ैदी को अनुबंधित किया था। जावेद सिद्दिक़ी बताते हैं, ''रॉय ने सबसे पहले सारे डायलॉग का अंग्रेज़ी में अनुवाद कराया ताकि वे मूल स्क्रीनप्ले और मेरे द्वारा लिखे गए संवादों के बीच के फ़र्क़ को समझ सकें, फिर उन्होंने मेरे द्वारा लिखे गए हर संवाद को बांग्ला में लिख कर, उसे पढ़ कर देखा।'' ''मैंने जब उनसे इसकी वजह पूछी तो उन्होंने फ़रमाया, 'ज़ुबान कोई भी हो, शब्दों की अपनी लय होती है। ये लय सही होनी चाहिए। अगर एक सुर ग़लत लग जाए तो पूरा सीन बेमानी हो जाता है'। ''जावेद सिद्दीक़ी आगे कहते हैं कि रॉय उनसे अक्सर कहा करते थे कि संवाद जितना कम हो फ़िल्म में उतना ही अच्छा है। रॉय का कहना था कि जहाँ दृश्य-चित्र बोलना बंद कर दें वहीं संवाद आना चाहिए। सबसे प्रभावी फ़िल्म संवाद वही है जिसमें लेखक की उपस्थिति का आभास ही न हो। ख़ासतौर पर अगर हम यथार्थवादी सिनेमा बना रहे हैं। सिनेमा की यही विशेषता है। अगर सिर्फ़ संवाद ही फ़िल्म में होंगे तो फिर उससे तो अच्छा है कि दर्शक कोई कहानी या उपन्यास पढ़ ले। शतरंज के खिलाड़ी का एक

क़िस्सा शमा ज़ैदी बताती हैं - फ़िल्म में एक ठुमरी है 'मैं बहती गोमती में बजरंगबली की पूँछ पकड़कर, डुबकी लगाने को तैयार हूँ।' इसकी प्रमाणिकता जाँचने के लिए मैं अमृतलाल नागर जी के पास गई तो उन्होंने कहा 'जा कर कह दो सत्यजित रॉय से कि यह ठुमरी वाज़िद अली शाह की नहीं है।' उसके बावजूद रॉय ने वह ठुमरी फ़िल्म में रखी और बोले कि यह ठुमरी फ़िल्म में कहानी के साथ सही बैठ रही है। इससे ये स्पष्ट होता है की तथ्यों के साथ-साथ रॉय फ़िल्म के अन्य पक्षों पर भी ध्यान रखते थे और जो तत्व फ़िल्म को बेहतर बनाने में मदद कर रहे होते थे उसे शामिल करने में झिझकते नहीं थे।

सुनील गांगुली के उपन्यास पर आधारित 'अरण्येर दिनरात्रि' (1970), बिभूतिभूषण बंदोपाध्याय के उपन्यास पर आधारित 'अशनि संकेत' (1973), रवींद्रनाथ टैगोर के उपन्यास पर आधारित 'घरे बाइरे' (1984) और हेनरिक इबसन के नाटक पर 'गणशत्रु'(1989), रॉय की अन्य फ़िल्मे है जो कि साहित्यिक रचनाओं पर आधारित है। 'अरण्येर दिनरात्रि' की कहानी का सार रॉय ने एक पत्रिका में पढ़ा था और उस पर फिल्म बनाने का फ़ैसला ले लिया था। अगर पटकथा और उपन्यास की बात करें तो रॉय ने इसमें बहुत सारे बदलाव किए थे जैसे मुख्य चरित्रों की पृष्ठभूमि से लेकर उनकी दिनचर्या और जीवनशैली, स्थान तक में। उपन्यास के चरित्र बेरोज़गार हैं और ट्रेन में स़फर करते हैं जबकि फ़िल्म में चित्रित पात्र नौकरी करने वाले हैं और कार से सफ़र करते है। सभी पात्र बांग्ला और अंग्रेज़ी मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं जो कि उनकी सांस्कृतिक रूप से उपनिवेशित मानसिकता को दर्शाता है। जब उपन्यास के लेखक सुनील गांगुली ने ये फिल्म देखी तो उनका कहना था कि फिल्म अच्छी है लेकिन उसकी पटकथा पूरी तरह से रॉय की है। उपन्यास का इसमें थोड़ा-बहुत अंश ही चित्रित मिलता है। गांगुली को पटकथा में इतने बड़े स्तर पर बदलाव की उम्मीद नहीं थी। इस फ़िल्म में रॉय ने युवा वर्ग को समझने की कोशिश की है। यह समकालीन उपन्यास सर्वाधिक चर्चित 'अशनि संकेत' बिभूतिभूषण बंदोपाध्याय के उपन्यास पर आधारित है। इससे पहले रॉय इनके ही उपन्यास पर अप्पू त्रयी का निर्माण कर चुके थे। बिभूतिभूषण बंदोपाध्याय के बारे में रॉय कहते हैं- वे एक ऐसे लेखक हैं, जिनकी कहानियाँ सिनेमा की नज़र से सोने की खान हैं और यह सौभाग्य था कि फ़िल्म जीवन के आरंभ में ही मेरी उनमें गहरी रुचि हो गई थी। जीवंत बोली के लिए उनके कान अद्भुत थे। 'अशनि संकेत' 1943 में बंगाल में आए भयंकर अकाल को चित्रित करती है। इसमें हम देखते है कि किस प्रकार अकाल से उत्पन्न भुखमरी, ग़रीबी जैसी समस्याएँ गाँव की सदियों से चली आ रही संस्कृति और पारंपरिक मानदंडों को ध्वस्त कर देती हैं। इस अकाल में तीस लाख से ज़्यादा लोगों की जान गई थी। इस फ़िल्म को बनाने के दौरान रॉय का ध्यान गाँवों में अकाल के प्रभाव को चित्रित करने से था। रॉय ने इस अकाल के असर को कोलकाता जैसे शहर में स्वयं देखा था लेकिन ग्रामीण प्रभाव को परदे पर लाने में वह ज़्यादा इच्छुक थे। ब्रिटिश सत्ता के दौरान आए इस अकाल और अंग्रेज़ी सरकार की क्रूर नीतियों के

कारण लाखों लोगों को मौत का शिकार होना पड़ा था। फ़िल्म में हम देखते है कि किस प्रकार एक भ्रष्ट राज्य सरकार और अतिरंजित उदासीन ब्रिटिश सत्ता, अनियंत्रित वितरण व्यवस्था और द्वितीय विश्वयुद्ध ने इस अकाल को वीभत्स बना दिया। रॉय ने अपनी फ़िल्म में यह दिखाने की कोशिश की हैं कि अकाल से आई भुखमरी से ज़्यादा अनेक स्तरों पर मानवीय विफलता भी थी। 'घरे बाइरे' की पटकथा रॉय ने चालीस के दशक में लिखी थी, तब इस फ़िल्म को हरिसधन दासगुप्ता निर्देशित करने वाले थे लेकिन बात नहीं बनी। लगभग चार दसक बाद एक बार फिर रॉय ने फ़िल्म की पटकथा पर दुबारा काम किया और अंततः फिल्म बनी। इस फ़िल्म के दौरान रॉय को हार्ट अटैक आया। बाद में रॉय के विस्तृत निर्देशों का अनुसरण करते हुए उनके बेटे संदीप रॉय ने फ़िल्म को पूरा किया। यह फ़िल्म जेन्निफर केंडल की आख़िरी फ़िल्म थी। रॉय ने इस फ़िल्म को एक प्रेम-कहानी के रूप में बनाया था। रॉय की यह पहली फ़िल्म थी जिसमें एक लंबा चुंबन का दृश्य भी था। हालाँकि भारत में समीक्षकों ने इस फ़िल्म पर अच्छी टिप्पणी नहीं की थी लेकिन विदेशी समीक्षकों ने फ़िल्म की काफ़ी तारीफ़ की थी। 'गणशत्रु' रॉय की एकमात्र फ़िल्म है जो कि एक नाटक पर आधारित है। इस फ़िल्म को रॉय ने भारतीय परिवेश में स्थापित कर पटकथा तैयार की थी। फ़िल्म धार्मिक आडंबरों के कारण प्रकृति को पहुँच रहे नुक़सान और उससे मनुष्य जाति को होने वाले नुक़सान को चित्रित करती है। शहर के प्रसिद्ध मंदिर के तालाब का पानी दूषित हो चुका है, लेकिन चूँकि लोग प्रसाद के रूप में उस पानी का सेवन कर रहे हैं और बीमार पड़ रहे हैं लेकिन पीछे की सच्चाई किसी को नहीं पता है। जब फ़िल्म का नायक इस बात को उजागर करने का प्रयास करता है तो उसे सामाजिक विरोध का सामना करना पड़ता। समस्या के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने का मतलब है धार्मिक आस्था पर चोट करना। फिल्म की पूरी कहानी इसी घटना के इर्द-गिर्द रची गई है। 'शाखा प्रशाखा' में रॉय जहाँ नाउम्मीद से दिखते है वही 'गणशत्रु' में हम एक सतर्क आशावादी रॉय को परदे पर देखते है। इस तरह के ज्वलंत विषय पर भी रॉय द्वारा फ़िल्म निर्माण करने के बावजूद उन पर भारत की विपन्नता दिखाने का आरोप लगता रहा।

कंचनजंघा' (1962), 'नायक' (1966), 'हीरक राजर देसे' (1980), 'शाखा प्रशाखा' (1990) और 'आगंतुक' 1991, ऐसी फ़िल्में हैं जो रॉय की मूल पटकथा पर बनी हैं। 'कंचनजंघा' रॉय की पहली रंगीन फ़िल्म है। हालाँकि रंगीन सिनेमा के आ जाने के बाद भी रॉय लंबे समय तक ब्लैक एंड व्हाइट फ़िल्में बनाते रहे। इसके पीछे कई कारण रहे, कभी कहानी की माँग होती थी तो कभी बजट की कमी लेकिन इसका असर रॉय की फ़िल्मों की गुणवता पर कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। रॉय 'रवि शंकर', 'द महाभारत', 'ए पैसिज टू इंडिया' और 'द एलीयन' नाम से फ़िल्में बनाना चाहते थे जिनकी पटकथा उन्होंने पूरी कर ली थी लेकिन ये फ़िल्में बन नहीं पाई। इसमें 'द एलीयन' वही फ़िल्म है जिसकी पटकथा चुराने का आरोप प्रसिद्ध फ़िल्मकार स्टीवन स्पीलबर्ग पर लगा था। रॉय का कहना था की स्पीलबर्ग की चर्चित फ़िल्म ई.टी. 'द

एलीयन' की पटकथा पर आधारित है। रॉय 'द एलीयन' की पटकथा पर पहले ही हॉलीवुड स्टूडिओ कोलंबिया पिक्चर्स के साथ अभिनेता मर्लोन ब्रैंडो को लेकर फ़िल्म बनाने की कोशिश कर चुके थे। रॉय ने गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर, बिनोदबिहारी मुखेर्जी, सुकुमार रॉय और सिक्किम राज्य पर चर्चित वृतचित्र का भी निर्माण किया है। रॉय सिर्फ़ फ़िल्मकार नहीं थे अपितु उन्होंने बीसियों किताबें लिखी हैं जिनमें ज़्यादातर कहानियाँ है। रॉय की बाल मनोविज्ञान पर ज़बरदस्त पकड़ थी। जिसका उदाहरण है उनके द्वारा गढ़े गए फेलूदा नाम से प्रसिद्ध जासूसी चरित्र और प्रोफ़ेसर शोंकू जैसा वैज्ञानिक चरित्र। ये दोनों ही बच्चों के बीच में सर्वाधिक पसंदीदा चरित्र हैं। उन्होंने बच्चों की पत्रिका 'संदेश' का भी कुशलतापूर्वक संपादन किया। उन्होंने फ़िल्मों पर भी कई किताबें लिखी हैं। रॉय आजीवन बच्चों के लिए कहानियाँ लिखते रहे। रॉय अपनी फ़िल्मों के पोस्टर स्वयं बनाया करते थे। सत्यजित रॉय के सभी कार्यों में सादगी और स्वच्छता का एक अलग रूप देखने को मिलता है। साहित्य, कला, संगीत, आदि का जो संगम रॉय की फ़िल्मों में देखने को मिलता है वह अद्भुत है। रॉय ने सिनेमा सहित उन सभी क्षेत्रों में जिसमें काम किया, अपनी एक अलग शैली विकसित की।

मानवीय छवि का चित्रांकन करनेवाले रॉय एक मात्र भारतीय फ़िल्मकार नहीं है जैसा कि अक्सर समीक्षक कहते है। वित्तोरियो द सिका से लेकर बिमल रॉय और राज कपूर तक अनेक फ़िल्मकारों ने मानवीय छवि, दर्द, पीड़ा, संवेदना को सिनेमा पर्दे पर बार-बार अपने अंदाज़ में चित्रित किया है। फिल्म निर्देशक जाह्नू बरुआ कहते हैं कि 'रॉय भारत में पहले फिल्म निर्माता थे, जिन्होंने विश्व सिनेमा की अवधारणा का अनुसरण किया। भारतीय सिनेमा में आधुनिकतावाद लाने का श्रेय भी उन्हीं को जाता है। उनकी फ़िल्में हमेशा यथार्थ पर केंद्रित रहीं और उनके चरित्रों को हमेशा आम आदमी के साथ जोड़ा जा सकता है।' ब्रिटिश आलोचक अक्सर कहते रहे कि रॉय सिनेमा के सच्चे कवि है लेकिन वह अपनी कविता रोज़मर्रा की सच्चाई में ढूँढ़ते हैं, जो कि किसी तरह की कल्पना में नीरस लगता है। अपने ज़माने की प्रसिद्ध हीरोइन वहीदा रहमान कहती हैं कि रॉय का नज़रिया बिल्कुल साफ़ था। वे अन्य फ़िल्मकारों से बिलकुल जुदा थे। रॉय को पता रहता था कि किस कलाकार से किस तरह का काम उन्हें चाहिए। रॉय का सिनेमा संसार विश्व सिनेमा के लिए एक अनुपम उपहार है। उनकी प्रत्येक फ़िल्म अपने आप में एक ग्रंथ है जो दर्शक को एक अलग आनंद लोक में ले जाती है। रॉय की फ़िल्मों को कड़ी समीक्षा भी झेलना पड़ी हैं। अनेक समीक्षकों के अनुसार उनकी फ़िल्में बहुत ही धीमी गति से चलती हैं। ऐसे समीक्षकों के जवाब में रे ने कहा है कि वो अपनी फ़िल्मों की गति पर कुछ नहीं कर सकते। यहाँ उनके बचाव में उनके प्रशंसक और महान जापानी फ़िल्मकार अकिरा कुरोसोवा कहते हैं-'यह धीमी नहीं बल्कि विशाल नदी की तरह शांति से बहने वाली गति है।' रॉय पर अक्सर आरोप लगता रहा है कि उन्होंने सिर्फ़ भारत की ग़रीबी, लाचारी, भुखमरी जैसी समस्याओं को अपनी फ़िल्मों में दिखाया और भारत की छवि

को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर क्षति पहुँचाई है। ऐसे लोगों को पहले रॉय का संपूर्ण सिनेमा देखना चाहिए। अगर आप रॉय का संपूर्ण रचनाकर्म देख लेंगे तो ऐसी बात नहीं करेंगे। लोगों को ज्ञात नहीं कि रॉय ने गंभीर विषयों के साथ हास्य-व्यंग्य, जासूसी और सोशल ड्रामा जैसे विषयों पर भी बेहतरीन फ़िल्में बनाई हैं। रॉय के अंतिम दिनों की फ़िल्मों को कलात्मक दृष्टि से पूर्व की फ़िल्मों की तरह बेहतर नहीं माना जाता है। चूँकि उन्हें अंतिम दिनों में ज़्यादा भाग-दौड़ में परेशानी होने लगी थी, अतः उन्होंने अंतिम वर्षों में फ़िल्मांकन ज़्यादातर इनडोर लोकेशन पर किया है लेकिन ऐसी स्थिति में भी रॉय की रचनात्मकता कम होती नहीं दिखती। सत्यजित रॉय ने फ़िल्म निर्माण की कला भले फ़िल्में देखकर सीखीं लेकिन उनकी फ़िल्मों की तकनीकी क्षमता में रत्ती भर भी कमी नहीं निकाली जा सकती। कैमरा और लाइट पर उनकी पकड़ बेमिसाल थी। उनकी फ़िल्मों का बजट कम होता था इसलिए वे प्राकृतिक प्रकाश का ज़्यादा इस्तेमाल करते थे लेकिन इससे कहीं भी फ़िल्म का कलापक्ष प्रभावित नहीं होता था। रॉय का वैसे भी अपने संपूर्ण फ़िल्मी सफ़र में रियलिटी पर सर्वाधिक जोर रहा। 1989 में रॉय से एक साक्षात्कार में पूछा गया कि क्या वे अपनी आत्मकथा लिखना चाहेंगे। उनका उत्तर था कि आत्मकथा के बजाय मैं फ़िल्म बनाना ज़्यादा पसंद करूँगा। यह उत्तर उनके फ़िल्मकला के प्रति अगाध प्रेम को दर्शाता है। भारत रत्न, ऑस्कर पुरस्कार, दादा साहेब फाल्के और अनगिनत राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों और सम्मानों से सम्मानित सत्यजित रॉय की गिनती ऐसे ही संसार के सर्वश्रेष्ठ दस फ़िल्मकारों में थोड़े ही होती है!

❖❖

संदर्भ ग्रंथ

-एंड्रिव रॉबिन्सन, सत्यजित रॉय- द इनर आइ, आई बी टौरिस एंड को पब्लिकेशन, लंदन, 2004

-सत्यजित रॉय, डीप फ़ोकस- रेफलेक्संस ऑन सिनेमा, हार्पर कॉलिंस पब्लिशर्स, इंडिया, 2013

- प्रयाग शुक्ल, जीवन को गढ़ती फ़िल्मे, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2017

- सुरेश जिंदल, माई एडवेंचर विद सत्यजित रॉय - द मेकिंग ऑफ शतरंज के खिलाड़ी, हार्पर कॉलिंस पब्लिशर्स, इंडिया,

- फ़िल्म का सौंदर्यशास्त्र और भारतीय सिनेमा, संपादक- प्रो कमला प्रसाद, शिल्पायन, दिल्ली, 2010

- द ऑक्सफ़र्ड हिस्ट्री आफ वर्ल्ड सिनेमा, संपादक - जेफ़्री नोअल - स्मिथ, आक्स्फ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रथम संस्करण -1996, लंदन

- https://www.imdb.com/name/nm0006249/ (15मई 2021)

- https://en.wikipedia.oerg/wiki/Satyajit_Ray (15मई 2021)

- https://www.bbc.com/hindi/india-57022088 (20मई 2021)

- सत्यजित रॉय द्वारा निर्मित फिल्मो का अवलोकन

- श्याम बेनेगल द्वारा सत्यजित रॉय पर निर्मित वृतचित्र

इक्कीसवीं सदी की आदिवासी केंद्रित कहानियों पर भूमंडलीकरण का प्रभाव

● डॉ. माधुरी जोशी

इक्कीसवीं सदी का आरंभ सन 2000 से होता है। 2000 से लेकर अब तक दो दशक में कहानी जगत में बहुत कुछ लिखा गया है। कहानी में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श की धाराएँ समृद्ध हुई। इक्कीसवीं सदी की कहानी वैविध्यपूर्ण है।

आदिवासी केंद्रित शब्दप्रयोग इसलिए किया गया क्योंकि उसमें आदिवासी और ग़ैर आदिवासी दोनों लेखक आए। इनके साथ दो शब्द जुड़े है-स्वानुभूति और परानुभूति। भूमंडलीकरण का प्रभाव देखने के लिए दोनों साहित्यकारों की कृतियों पर विचार किया जाएगा। आदिवासी लेखकों में पीटर पॉल एक्का, रूपलाल बेदिया, भगवान गव्हाडे की कहानियों पर भूमंडलीकरण का प्रभाव दिखाई देता है। ग़ैर आदिवासी लेखकों में राकेश कुमार सिंह, डॉ.मायाप्रसाद, पंकज मित्र आदि लेखकों की कहानियाँ आलोचना का विषय हैं। रणेंद्र और संजीव की कहानियों के बिना तो यह प्रपत्र अधूरा ही रहेगा।

आदिवासी इस धरती के आदिम निवासी हैं। जो विशिष्ट भाषा, संस्कृति, जीवनपद्धति और परंपराओं को मानते हैं। आदिम काल से वन, जंगलों के बीच जीने के आदी हैं। आदिवासी अपने रहन-सहन, खान-पान आदि के कारण दूसरों से अलग नज़र आते हैं। भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासियों के अस्तित्व का प्रश्न दिनोंदिन गंभीर बन रहा है।

साहित्य अपने समय और समाज के यथार्थ को अभिव्यक्ति देता है। साहित्यकार अपने समाज का संवेदनशील व्यक्ति है। आदिवासियों के अस्तित्व की लड़ाई जिन साहित्यकारों ने अनुभव की उसका जीवंत दस्तावेज़ उनकी कहानियों में है।

भारत का आदिवासी समाज अनेक राज्यों में बिखरा हुआ है। मध्यप्रदेश, झारखंड, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, बिहार ऐसे कई राज्य हैं जिनमें रहनेवाले आदिवासी अस्तित्व की लड़ाई में जुटे हुए हैं। आदिवासियों को उनके बसेरे से हटाने की कोशिशें सदियों से हो रही है।

भारतीय संदर्भ में आदिवासी की परिभाषा नृतत्वशास्त्री स्वर्गीय डॉ. डी.एन.मजूमदार ने इस प्रकार की है -"A tribal is a social group with territorial affiliation endogamous with no specialisation of function ruled by tribal officers, hereditary or otherwise, untitled in language or dialect recognising social distance from other tribes or castes but without traditions, beliefs and customs, liberal of naturalization of ideas from alien sources above all conscious of a homogeneity of ethic and territorial integration."[1]

महात्मा ज्योतिबा फुले जी बड़े ही मार्मिक शब्दों में आदिवासियों के बारे में कहते हैं –

"गोड़ भील क्षेत्रीये पूर्व स्थायी
पीछे आए वहीं ईरानी,
शूर, भील मछुआरे मारे गए रारों में
ये गए हकाले जंगलों गिरिवनों में।''[2]

यह भी मान्यता है कि आर्यों के अतिक्रमण के समय आदिवासी पहले से ही भारतीय उप महाद्वीप में रह रहे थे। आर्यों ने कुछ आदिवासियों को युद्ध में परास्त कर दास बना लिया। अन्य आदिवासी जंगलों या पहाड़ी प्रदेशों में पलायन कर गए।

"1991 की जनगणना के अनुसार संसार के 30 करोड़ मूल निवासियों में छह करोड़ सतहत्तर लाख साठ हजार मूल निवासी भारत में रहते हैं। वे भारत के 26 राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों में फैले हुए हैं।''[3]

"भारत की 90 प्रतिशत कोयला खानें, 72 प्रतिशत वन और अन्य प्राकृतिक संसाधन और 80 प्रतिशत अन्य खनिज पदार्थ आदिवासी भूमि पर पाए जाते हैं। 3000 से भी ज्यादा विद्युत बाँध भी इन्हीं क्षेत्रों में बनाए गए हैं।''[4]

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया आर्थिक और राजनीतिक है लेकिन उसका असर सामाजिक, सांस्कृतिक भी हो रहा है।

जंगल आदिवासियों की ज़िंदगी का आधार है। कहानियों में चित्रित आदिवासियों को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

1) जिनका शहरी जीवन से कोई संपर्क नही हो सका ऐसे आदिवासी

2) खनन, बाँध आदि के कारण शहरी लोगों के संपर्क में आए आदिवासी

3) सरकारी योजनाओं का फायदा लेकर पढ़ लिखकर शहरों में रहने के लिए आए आदिवासी

इनमें से दूसरे प्रकार के आदिवासियों पर लिखा साहित्य अधिक है। क्योंकि वे ही शिकार हैं सरकारी नीतियों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के।

आदिवासी केंद्रित कहानियों में परती भूमि, गोल्डन सिटी, बलि, दिशाहारा, रात बाकी, बस वह धूल थी, बाकी धुआँ रहने दिया आदि कहानियाँ हैं। आदिवासियों का विस्थापन भूमंडलीकरण के कारण बढ़ा। भारत में विकास के कारण होनेवाला विस्थापन कोई नया मुद्दा नहीं है। लेकिन विस्थापित होनेवाले लोगों में आदिवासियों की संख्या अधिक है। खनन कार्य, संरक्षित आर्थिक क्षेत्र, बाँध निर्माण आदि विस्थापन के महत्त्वपूर्ण कारण है।

50 के दशक से लेकर अब तक देश में जितनी भी योजनाएँ कार्यान्वित हुईं उनका अधिकांश

बोझ आदिवासी क्षेत्रों पर ही पड़ा। यह काम इतनी हृदयहीनता से हुआ कि देश की पूरी आदिवासी आबादी (8 करोड़) की एक चौथाई से भी अधिक आबादी अपनी जड़ों से उखाड़ दी गई और जिसकी कोई चिंता देश को नहीं है। यह आबादी देश के महानगरों की परिधियों में बसी झुग्गी-झोपड़ियों में मिलेगी।

संजीव की 'बाघ' कहानी जंगल, आदिवासी

और बाघ के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदल देती है। मध्यमवर्गीय शहरी लोगों के लिए जंगल में बाघ देखने जाना रोमांच भरा होता है लेकिन जंगल में रहने वाले आदिवासियों के लिए बाघ मृत्यु का पर्याय है।

सुंदरबन के गोसांबा द्वीप में रहनेवाले गोपाल की कहानी है, बाघ। घर के पाँच लोगों को बाघ खा गया। संपूर्ण जीवन बाघ से लड़ते-लड़ते बीत गया। बाघ को बचाने और उनकी संख्या को बढ़ाने के चक्कर में बनाए गए नियमों और कानूनों का आदिवासियों की ज़िंदगी पर गंभीर परिणाम हुआ है। आदिवासी मछली पकड़ने के लिए बफर ज़ोन से कोर ज़ोन में जाते हैं। गोपाल का कहना है - "बाघों को बचाने के लिए देश-परदेश में कितने लोग हैं, उन्हें बचानेवाला कोई नहीं है । सरकार का कहना है बाघ भले ही तुम्हें मार डालें, लेकिन तुम बाघ को नहीं मार सकते।"[5] गोपाल, हाकिम के दरबार में मुआवज़ा पाने के लिए बार-बार जाता है। सरकारी नियम के अनुसार केवल दो ही आदमी का मुआवज़ा मिल सकता है जो सीधे-सीधे बाघ के शिकार हुए हैं। गोपाल सरकारी अफसरों के लिए मज़ाक का विषय बन गया है। लेखक गोपाल के ज़रिए व्यवस्था की अमानवीयता पर व्यंग्य करते हैं। कहानी में मनुष्य की जिंदगी की अपेक्षा बाघ की ज़िंदगी को महत्त्वपूर्ण दर्शाया गया है। जंगलों में रहने वाले आदिवासियों के लिए सबसे बड़ा प्रश्न है जीविका का। ज़िंदगी ख़त्म होती है लेकिन जीविका के लिए जद्दोजहद खत्म नहीं होती।

पीटर पॉल एक्का की कहानी 'परती ज़मीन' आदिवासी की उस ज़मीन के परती रह जाने, विकास के गंगाजल से प्यासी ही रह जाने की विडंबना सामने रखती है। जिस पर दो पहाड़ियों के बीच बाँध बनाया जा रहा है। परती ज़मीन उस ज़मीन को कहते हैं जो सिंचाई सुविधाओं से वंचित होती है। यह स्वाभाविक ही है कि अपनी ज़मीन पर बनाए जा रहे बाँध और उससे निकलनेवाली नहरों से आदिवासी यही अपेक्षा रखें कि वह बाँध और उसकी नहरें आदिवासी ज़मीन की प्यास बुझाकर उसे परती न रहने देंगी, लेकिन त्रासदी यह है कि आदिवासियों के लिए इन विकास योजनाओं की स्थिति दिया तले अँधेरा वाली होती है।

सहायक इंजीनियर के पद पर आए सिंह की नज़रों से हम परिस्थिति को देखते हैं। पाँच साल

पहले बाँध का अनुमोदन हो चुका था। तभी से काम शुरू हो गया था। ज़मीन डूबने के मुआवज़े के नाम पर थोड़ी सी रकम लोगों को दी गई थी। पहाड़ी इलाके में रोष की जो लहर उठी थी वह अब भी सुलग रही थी।

यह कहानी कई प्रश्न हमारे समक्ष रखती है। इंजीनियर भजन सिंह द्वारा किया जाने वाला आदिवासी औरतों का दैहिक शोषण जिसका शिकार ऐतवारी बनीं। सरकारी काम शुरू होने के बाद आदिवासी औरतों को सरकारी अफसरों के घरों में बर्तन माँजने, पानी लाने आदि का काम मिल जाता है। आदिवासी औरतों ने काम पर जाना छोड़ दिया तो इस पर ऐतवारी का उत्तर है - "छोटे बाबू, रोज़ी रोटी का सवाल है न। बड़े बाबू ने कहा था -यहाँ काम पर नहीं जाओगी तो बाँध की मेहनत मजदूरी भी तुम्हारे गाँव वालों के लिए बंद हो जाएगी।''[6]

"सहायक इंजीनियर का मूक विद्रोह भजन सिंह ने जाना था। उसने काफी कोशिशों के बाद लोगों को समझा बुझाकर कामगारों की एक यूनियन सी बना दी थी।''[7]

इंजीनियर के ट्रांसफर का फरमान बड़े बाबू लेकर आए थे। सहायक इंजीनियर के कथन से कहानी का अंत होता है। *''जब आया था-अनेक सवाल उस मासूम, भोले-भाले चेहरों में तैर रहे थे। हमारा तन-मन, हमारी ज़मीन, हमारी इज़्ज़त, हमारा सब लूटकर जो बाँध तैयार होगा, जो नहरें खोदी जाएँगी उससे किनके खेत सीचेंगे, जो बिजली तैयार होगी उससे किनके घर आँगन रोशन होंगे ?''*

और उन सवालों का आज भी हमारे पास कोई जवाब नहीं है। सामाजिक अन्याय, व्यवस्था का अन्याय सहते जाने के अलावा आदिवासियों के पास कोई चारा नहीं है।

ऐतवारी पर किए गए अत्याचार को जानने के बाद चेतू का गुस्सा भड़का। उसकी आँखों से चिंगारी फूँटने लगीं, भुजाएँ फड़कने लगी, उसने ललकार कर कहा-*बड़े बाबू मर्द हो तो बाहर निकलो, माँ बेटियों से नहीं, ताकत आजमाना है तो हम जवानों से आजमाओ।* भजन सिंह की तैयारी पहले से थी-*हरामियों पत्थर से टकराना चाहते हो। पहले अपनी औकात देखो, दाने-दाने के मोहताज भिखारियों एक-एकको भून दूँगा।* कहकर उसने खिड़की से रायफल अड़ा दी।

अधिकारियों पर पद और सत्ता का नशा इस

तरह छाया रहता है कि कोई भी उनका बाल बाँका नहीं कर सकता। इसके बाद बाँध के काम से हमेशा के लिए चेतू और ऐतवारी को छुट्टी दे दी गई। सरकारी अधिकारियों द्वारा ढाए गए ज़ुल्म के ख़िलाफ़ कोई सुनवाई नहीं होती। ठेकेदार ओवरसियर, मुंशी, नौकर, गुलाम, सब चीफ इंजीनियर के इशारे पर नाचते थे। बड़े बाबू ने पैसों से गाँव के बड़े बूढ़ों का मुँह बंद कर दिया था।

भगवान गव्हाडे की कहानी 'गोल्डन सिटी' राष्ट्रीय विकास के नाम पर शहर की शोर भरी आबादी से कोसों दूर जंगल के सानिध्य में छोटे से बस्तीनुमा गाँव सोनवाडी के उजड़ने की कहानी है। गाँव के बड़े बुजुर्ग, स्त्री पुरुष जंगल में घूम शहद, तेजपत्ता, महुए के फूल, चौराई, बिंबाफल, गोंद इकट्ठा कर ले जाते है। बुजुर्ग जानकार मसालों, अश्वगंधा, बेहरडा, हिरडा, ज्येष्ठमध, शिलाजीत, रामकंद आदि लेकर बाजार में बेचते। कस्बे के चालाक ठग और व्यापारी सस्ते में सौदा करके इन चीजों का दाम गिराकर कौड़ी के भाव से खरीदते थे। ऐसे गाँव की सरहद पर एक दिन सरकारी गाड़ियाँ और बाबू लोग कुछ दूरबीनों के सहारे रास्तों को नापने का प्रयास करते नज़र आए। आदिवासियों को अपने गाँव और वनों से बेहद प्रेम है। धोंडिबा ने सरकारी लोगों द्वारा बनाए खुदाई के निशान देखे। रात को चौपाल पर पाडे के सारे छोटे बड़े बूढ़े औरतें जमा हो गई। जब नक्शे बनाने आरंभ हुए तो सूर्यभान ने सबको संबोधित करते हुए कहा कि, *"हमारी धरोहर यह जंगल, पोखर, झील और जमीन जो हमारे पुरखों की अमानत हैं, इन पर जब भी संकट आएगा, हम उसका मिलकर सामना करेंगे। हमने आज़ादी का नाम तो सुना था लेकिन मैं पूछता हूँ आज़ादी किस खेत की मूली है? हमसे पूछे बगैर हमारे ही इलाके में सरकार के नुमाईंदे, सफेदपोश बाबू लोग दखलंदाजी कर रहे हैं, यह हमसे बर्दाश्त नहीं हो रहा है।'*[8]

तहसीलदार ने पूरे दिन इंतज़ार करवाया और भाषण देकर सोनवाडी के सरपंच और गाँववालों को कहा कि आपका गाँव 'गोल्डन सिटी', हिल स्टेशन में परिवर्तित होने वाला है। आदिवासियों ने विरोध किया पर कोई बदलाव न हो सका। पर्यटन मंत्री पवार, कांट्रेक्टर भोसले, ज़िलाधिकारी, तहसीलदार, विरुद्ध स्थानिक आदिवासी इस संघर्ष में जीत सरकार की हुई लेकिन आदिवासियों ने जो प्रश्न उठाए उनका कोई उत्तर नहीं मिलता। पर्यटन मंत्री जो सुनहले भविष्य का चित्र खड़ा करते हैं। अगर सोनवाडी में गोल्डन हिल स्टेशन का निर्माण हो गया तो आप की

ज़िंदगी में भी सोने के दिन आएँगे। यहाँ पर देश-विदेश से पर्यटक घूमने आएँगे। आपकी कलाकारी, हस्तकला आदि को अंतर्राष्ट्रीय मार्केट मिलेगा। आपके बच्चों को इसी सिटी में घर बैठे नौकरियाँ मिलेगी। सोनवाडी के सरपंच ने इसका उत्तर देते हुए जो कहा वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है -"इसके पहले भी हमने आपके और सरकार के आगे हाथ नहीं फैलाए हैं । हम जिस हाल में हैं उसी में खुश हैं। बाजार चाहे देशी हो या विदेशी हम बिकाऊँ नहीं हैं।''[9]

आज विकास के नाम पर बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ मुनाफ़ा कमा रही हैं। आदिवासियों से संबंधित नीतियाँ बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, भ्रष्ट सरकारी अफ़सर, स्वार्थी आदिवासी नेता तय कर रहे हैं। व्यवस्था हमेशा तर्क देती है कि उन्हे समाज की मुख्यधारा में लाने की कोशिश करनी है। लेकिन वास्तव में विकास के नाम पर उन्हें विस्थापन मिलता है। आदिवासी शोषण के शिकार हो रहे हैं।

आदिवासियों का शोषण केवल राज्य के द्वारा ही नहीं तो ढोंगी समाज सुधारकों द्वारा भी हो रहा है। इसाई मिशनरियों ने आदिवासियों को मदद देकर बड़े पैमाने पर धर्म परिवर्तन किया। धर्म परिवर्तन करके केवल नाम बदल दिए जाते हैं। न पुरानी पहचान मिटती है, न नई बन पाती है।

आदिवासी स्त्री पर दोहरे शोषण की मार पड़ रही है। वह कहीं भी सुरक्षति नहीं है। उसे भोग की वस्तु बना दिया गया है। कभी ख़ुद आदिवासी समाज के लोगों द्वारा उसका शोषण होता है तो कभी सरकारी सुरक्षाकर्मियों द्वारा। उसकी कहीं भी सुनवाई नहीं है। आदिवासी कहानियों में इनका चित्रण बड़े ही मार्मिक रूप में किया गया है।

आदिवासी, विस्थापन, पुनर्वसन, विमर्श अभी भारतीय साहित्य में नए-नए विकसित हो रहे हैं। यह इंटरनेट की मदद, अख़बारों के हवाले से, टेबल कुर्सी पर बैठ कर लिखा जानेवाला साहित्य नहीं है। इसके लिए आदिवासी जनजीवन के बीच गहरे पैठ कर उनको सही मायने में सभी आयामों में जानने-जाँचने और परखने की ज़रूरत है । और सुविधा भोगी छद्म रचनाकार यह जोखिम उठाने को तैयार नहीं है। ऐसे में इस तरह की रचनाएँ या तो आदिवासी समाज के बीच से उभरेगी या उन एक्टिविस्टों की कलम से जिन्होंने इनके संघर्ष को अपना मान लिया है।

प्रशासन और पूँजीवादी शक्तियों के खेल को उजागर करने और उनके ख़िलाफ़ माहौल खड़ा करना एक प्रकार का जोखिम भरा काम होता है रचनाकार के लिए। हमारी युवा पीढ़ी और इस दशक के रचनाकारों ने इस जोखिम को उठाने का साहस दिखाया है।

❖❖

संदर्भ ग्रंथ

1) भारत के आदिवासी – पी.आर.नायडू – पृ. 02

2) महात्मा फुले वाङ्मय – संपादक धनंजय कीर – पृ.416

3) आदिवासी कौन – रमणिका गुप्ता – पृ. 35

4) बाघ – संजीव – पृ. 10

5) परती ज़मीन – पीटर पॉल एक्का – पृ. 73

6) वहीं – पृ. 74

7) गोल्डन सिटी – भगवान गव्हाडे – पृ. 174

8) वहीं – पृ. 179

हिंदी साहित्य में हाशिए पर नारी

● श्रीमती ऊषा यादव

शोध सारांश- *साहित्य के माध्यम से नारी विमर्श वा नारीवादी दृष्टिकोण के द्वारा आदिकाल से नारी के विभिन्न पहलुओं तथा उनकी परिस्थितियों को उजागर करने का प्रयास किया गया है।*

बीज शब्द- विडंबना, दुर्लभ, प्रस्तावित, दृष्टिकोण, आहट, आदि।

परिकल्पना- समय और समाज की आहट को पहचानते हुए रचना तथा रचनाकारों और उनके संवादों को पहचानना अत्यंत आवश्यक है। आज जिस समाज व परिस्थिति में हम सभी जी रहे हैं। वह समाज हमारे लिए विडंबनाओं से भरा हुआ समाज है। जहाँ हर कोई बनावटी चेहरा चढ़ाए घूम रहा है। समय के अभाव के साथ हम सभी की संवेदनाओं के साथ जैसे खिलवाड़ किया जा रहा है। समाज एवं घर की स्थितियाँ इतनी दुर्लभ-सी बन पड़ी हैं, कि नारी... बेचारी... अत्यंत दुर्लभ अवस्था में दीन-हीन तथा लाचार-सी बन गई है। शायद नारी चिंतन एवं तर्क का मुख्य उद्देश्य दलन के अनुभवों की अभिव्यक्ति ही है। इस शोध आलेख के माध्यम से नारी के विकास की स्थिति तथा आदिकाल से नारी पर हुए अत्याचारों और उसकी विभिन्न परिस्तिथियों को बताने का प्रयास किया गया है।

भूमिका - हमारे समाज में पितृसत्तात्मक का नियम नारी शोषण का मुख्य कारण है। इस दयनीय स्थिति के चलते नारी विमर्श ने जन्म लिया है। नारी विमर्श कब, कैसे, क्यों उदय हुआ...? इसकी गहराई से जानकारी ग्रहण करने के लिए नारी विमर्श को समझना अत्यंत आवश्यक हैं। समकालीन हिंदी साहित्य में लेखिकाओं का स्थान विशेषकर 1960 के बाद रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में चेतना संपन्न होने पर नारी ने पारंपरिक भूमिका तथा अन्य अत्याचारों, पाखंडों का विरोध कर लेखन आरंभ किया, कि समाज में अब तक उसका कोई स्थान लेखन में नहीं था। समकालीन महिला कहानियों,

उपन्यासों में पुरुषों का योगदान ही काफी दिखाई पड़ता है। पुरुषों ने सहानुभूति के बल पर लिखा परंतु महिला लेखिकाओं ने स्वानुभूति के बल पर कलम चलाई। एक स्त्री द्वारा स्त्री की व्यथा का चित्रण मन की गहराई को छूता है।

यदि हम आदिकाल की बात करें तो आदिकालीन अपभ्रंश साहित्य से ज्ञात होता है की स्त्रियों की सामाजिक दशा उनकी प्रकृति व कार्य क्षेत्र में बदलाव आते रहे। अपभ्रंश भाषा के कवि हेमचन्द्र का गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह संवत (1150 -1199) उनके भतीजे (कुमार पाल संवत 1199 से 1230) के यहाँ उनका बहुत सम्मान था। वे उस समय के सबसे बड़े जैन आचार्य थे। इन्होंने एक बहुत बड़ा भारी व्याकरण ग्रंथ "सिद्धहेमचंद शब्दानुशासन" सिद्धराज के समय में बनाया। इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं का समावेश किया। अपभ्रंश के उदाहरणों में इन्होंने पूरे दोहों में नारी का विषय एक अलग तरीके से चित्रित किया है। उस समय नारी का स्वाभिमान उसके समाज और राष्ट्र से जुड़ा हुआ था। तभी वह अपने पति या कंत की मृत्यु पर रोती नहीं ।अपितु गौरव महसूस करती थी। जैसे एक पंक्ति में-

"भला हुआ जो मारिया बहिणि महारा कन्तु
लज्जेत तू वयसिअहु जइ भग्गा धरु एतु"[1]

(हिन्दी साहित्य का इतिहास,रामचंद्र शुक्ल,पृष्ठ संख्या-13)

हे! सखि! भला हुआ जो मारा गया हमारा कंत। यदि भागा हुआ घर आता तो मैं अपने समाज तथा रिश्तेदारों में लज्जित होती।

इस प्रकार जहाँ आदिकाल में स्त्री जीवन के अनेक पक्षों को उजागर किया गया है। वहीं अपभ्रंश काल भी नारी समाज से अछूता नहीं रहा। हम यहाँ एक छंद में देख सकते हैं-

"जे महु दिणा दिअहड़ा दइए पवंसतेण
ताण गणंतिए अंगुलिऊ जजरियाऊ नहेण"[2]

(वहीं)

जो दिन या अवधि अर्थात प्रिय ने प्रवास जाते हुए जो वचन मुझे दिए थे, उन्हें नख से गिनते गिनते मेरी उगलियाँ जर्जरित हो गई।

आदिकालीन समय में नारी समाज में जहाँ प्रतिष्ठा के साथ अपने राजाओं के साथ जीवन व्यतीत कर रही थी। वही जब एक पराजित हो जाता था तो वह बंदी या दासी की तरह अपना जीवन ना स्वीकार करके मृत्यु को गले लगाना पसंद करती थी। इस तरह हम देख सकते हैं कि आदिकाल में नारी अपने सम्मान और अपनी प्रतिष्ठा के लिए अपना जीवन भी दाँव पर लगा देती थी। इसी प्रकार यदि हम बात भक्तिकाल की करें तो भक्तिकाल में आते-आते नारी की स्थिति में थोड़ा बदलाव आया।

नारी प्राचीन काल से ही साहित्य का महत्वपूर्ण अंग थी। पुरुषों ने अपनी आवश्यकता तथा आकर्षण के आधार पर साहित्य में नारी के विविध रूपों को दर्शाया। जहाँ आदिकाल में कवियों ने नारी की धार्मिक सामाजिक स्थिति का चित्रण किया है। जब नारी केवल पुरुष की काम वासना का शिकार थी, तो वह केवल मात्र सौंदर्य की प्रतिमा होने से जिसके कारण राज्य बनते और बिगड़ते रहते थे। तो वहीं

भक्तिकालीन- समय तक आते-आते नारी के

प्रति दृष्टिकोण थोड़ा बदलता है संतों ने नारी को मान सम्मान दिया, बाकी स्थिति नारी की ज्यों की त्यों बनी रही। तभी तो तुलसीदास जैसे कवि यह लिखने से बाज़ नहीं आए।

"ढोल गवाँर शुद्र पशु नारी
यह सब ताड़न के अधिकारी''[3]

(हिंदी साहित्य का इतिहास रामचंद्र शुक्ल पृष्ठ संख्या 105)

भक्तिकाल में नारी को कई अवहेलना का सामना भी करना पड़ा। उसको द्वितीय दर्जे का इंसान समझा गया। उस पर कई बंदिशे लगीं। फिर भी वह हर बंदिशों को चुपचाप झेलती गई।

वहीं यदि हम बात रीतिकाल की करें तो- रीतिकाल तक आते-आते फिर नारी उपभोग की वस्तु बन गई। रीतिकाल की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थिति को देखते हुए नारी की कामुकता का चित्रण बिहारी द्वारा उचित ही लगता है। क्योंकि साहित्य तो समाज का प्रतिनिधि होता है और बिहारी लाल के एक दोहे में हम देख सकते हैं-

"नहीं पराग नहीं मधुर मधु, नहीं विकास इहिं काल
अली कलि ही सो बंध्यो,आगे कौन हवाल''[4]

(हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद शुक्ल पृष्ठ संख्या- 188)

इस पंक्ति में बिहारी ने नायिका के विभिन्न मुद्राओं और अनुभव का चित्रण किया है। बिहारी लाल ने नारी के सौंदर्य, कोमलता, चतुराई आदि को इस तरह से व्यक्त किया है जैसे राधा और कृष्ण की भक्ति भावना के सौंदर्य को।

आधुनिक काल में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक चेतना में परिवर्तन ज़रूर हुआ। परंतु इसका असर भी साहित्य में पड़ा। उस समय सती प्रथा, बहु विवाह तथा अंधविश्वास ने नारी के जीवन को संकट में डाल दिया था। सबसे बड़ा संकट सती प्रथा का था। जिस किसी नारी का पति यदि मर जाता था, तो उस नारी को अपने पति के साथ ज़िंदा उसकी चिता पर बैठना पड़ता था। चाहे उसकी मर्ज़ी हो या ना हो। यदि पति नहीं तो नारी भी नहीं। ऐसी अवधारणा उस समय प्रचलित थी। तब राजा राममोहन रॉय जैसे समाज सुधारक ने इस दक़ियानूसी प्रथा के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई तथा इस प्रथा का खंडन करना शुरू कर दिया। फिर भी हमारे समाज में ऐसे अंधविश्वासी लोग आज भी मौजूद है, जो इस प्रथा को चोरी छिपे चला रहे हैं।

नारी मुक्ति, नारी स्वतंत्रता, शिक्षा आदि विचारधाराओं ने समाज को नई दिशा भी प्रदान की। साहित्य में नारी उत्थान इस युग में अत्यधिक दिखाई देता है। इस युग के साहित्यकारों में नारी पात्र, नारी मुक्ति चेतना के ज्वलंत उदाहरण हैं किंतु आंदोलन से या साहित्य में चित्रण कर देने मात्र से नारी अपनी परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त नहीं होती। जब तक उसकी आंतरिक चेतना जागृत नहीं होती। तब तक बाह्य मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

आधुनिक युग में हिंदी साहित्य में प्रेमचंदयुगीन साहित्य से नारी विमर्श अलग-अलग रूपों में समक्ष आने लगा। स्वंय प्रेमचंद ने अपने समग्र साहित्य में दहेज प्रथा जैसे भयानक राक्षस से परिचित करवा कर शिक्षा के प्रचार-प्रसार में अपना योगदान दिया। नारी समस्याओं को उजागर करने वाले तमाम

उपन्यासों में निर्मला, सेवासदन, और प्रतिज्ञा है। हिंदी साहित्य में नारी तो यूँ ही बनी रही, किंतु उनकी समस्याओं तथा दुर्बलताओं को समझने का एक अलग अंदाज़ चल पड़ा।

वहीं भारतेंदु युग में नारी चित्रण का सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाया गया।

एक वाक्य में देखिए-

"प्रिय दूरी, धन गरजेहि अहो दुख अति घोर
औषध दूरी हिमाद्रि पै, सिर पै सर्फ़ कठोर''[5]

("हिंदी साहित्य में नारी'' सुशीला टाकभौर पृष्ठ संख्या-42)

फिर इसके पश्चात जो दौर चला वह था, मनोवैज्ञानिक। जिसमें जैनेंद्र कुमार, इलाचंद्र जोशी और भगवतीचरण वर्मा प्रमुख माने जाते हैं। इनके उपन्यास जैसे सुनीता, कल्याणी, सुखदा आदि हैं। इसके पश्चात मन्नू भंडारी तथा राजेंद्र यादव द्वारा मिलकर एक उपन्यास लिखा गया जिसका नाम था- 'एक इंच मुस्कान' तथा मोहन राकेश द्वारा लिखित 'अंधेरे बंद कमरे में' स्त्री संबंधित कुछ पहलुओं को छूने का प्रयास अवश्य किया गया। समकालीन हिंदी उपन्यासों में महिला लेखन मन्नू भंडारी, अनामिका, प्रभा खेतान, ममता कालिया, गीताश्री आदि की लेखनी के माध्यम से विशेष नारी समस्याओं को उजागर किया। अपने वर्ग जाति को लेकर इन लेखिकाओं ने अपनी लेखनी द्वारा जिस प्रकार सही अंदाज में नारी की मानसिकता को अभिव्यक्त किया है। उतना पुरुष वर्ग नहीं कर सका। एक नारी लेखिका नारी जीवन पर अपनी नज़र ही नहीं रखती हैं, बल्कि नारियों की तमाम छोटी या बड़ी संवेदना को वह अपनी लेखनी के द्वारा यथार्थ में लिखने का प्रयास भी करती है। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा ने 'शृंखला की कड़ियों' में स्त्रियों की पुरुष सापेक्ष स्थिति को स्वीकार करते हुए कहा है "कि स्त्री समाज में पुरुष की इकाई के समान सब कुछ है परंतु उससे रहित कुछ नहीं''[6] *(शृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा पृष्ठ संख्या 115)*

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिंदी साहित्य में लेखिकाओं के साहित्य का प्रभाव 1960 के बाद होना शुरू हुआ। इन लेखिकाओं ने पुरुषों के समान ही अपनी लेखनी में स्त्रियों की समस्याओं को उजागर करने का प्रयास ही नहीं किया है बल्कि उन्हे महसूस भी किया।

निष्कर्ष - अंतत:हम इस तौर पर यही कह सकते हैं कि भारतीय समाज में नारी प्रश्न का कोलाज हम बनते हुए देखते हैं। घर- परिवार और समाज के पाखंडी मुखौटों को बेपर्दा होने की प्रक्रिया अब ज़ोर पकड़ रही है। नारी अब समाज में अपने हक के लिए लड़ रही है। हाशिए पर पड़ी उपेक्षित स्त्री अब हर क्षेत्र में अपनी सत्ता स्थापित करने की होड़ में स्त्रियों को अपनी भावनाओं की दुनिया से बेदख़ल करने वाले चैनल के ख़िलाफ़ पर लड़ रही है। लेकिन असलियत यह है कि उसकी त्रासदी का अंत नहीं हुआ है। भीड़ भरी सड़कों पर नज़र डालते हुए हम देखते हैं तो नारी आधुनिक काल में आकर भी उन्हीं ज़िम्मेदारियों के नीचे दबी हुई है। जिसे तोड़ पाना तो मुश्किल है। परंतु आज वह इस बोझ तले रहकर भी अपना रास्ता स्वंय बनाने के लिए तत्पर है।

❖❖

भारतीय आर्थिक प्रणाली में गांधीवादी चिंतन

● श्री देवेंद्र मौर्य तथा डॉ. मनोज कुमार राय

एक सदी पहले जब महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता आंदोलन की लड़ाई की शुरुआत हुई तो इस बात की प्रबल संभावना थी कि आज़ादी के बाद देश आर्थिक प्रणाली में गांधीवादी आर्थिक विचारों को पर्याप्त स्थान मिलेगा परंतु ऐसा नहीं हुआ क्योंकि गांधी ही एक मात्र ऐसे राष्ट्रीय नेता थे जिनके विचार अन्य नेताओं के आर्थिक विचारों से जैसे औद्योगिकीकरण, नगरीकरण एवं संसाधनों के स्वामित्त्व को लेकर भिन्न था। वे इस बात पर ज़ोर देते थे कि "भारत उसके शहरों में नहीं बल्कि उसके सात लाख गाँवों में बसता है, यदि गाँवों का नाश होता है, तो भारत का नाश होता है। गाँवों का आत्मनिर्भर बनना ही, भारत को आत्मनिर्भर बनाएगा यानी कि गाँवों की समृद्धि से ही भारत में समृद्धि आएगी। इसलिए गाँवों को सशक्त, शिक्षित और आत्मनिर्भर बनाया जाय।'' गांधी 20 सितंबर 1940 के हरिजन के अंक में लिखते हैं कि राष्ट्रीय नियोजन पर मेरा दृष्टिकोण अन्य दृष्टिकोण से भिन्न है, "मैं इसे औद्योगिक मार्ग पर नहीं चाहता। मैं गाँवों को औद्योगिकीकरण के संक्रामक रोगों से ग्रसित होने से बचाना चाहता हूँ।'' इसलिए वह पश्चिमी राष्ट्रों की तरह भारत में औद्योगिकीकरण के पक्षधर नहीं थे। वे औद्योगिकीकरण/ पूँजीवाद को एक आवश्यक बुराई के रूप में देखते हैं जो एक दूसरे के शोषण पर आधारित है। वे एक ऐसी आर्थिक इकाई चाहते थे जिसके केंद्र में मानव हो और जो ग्रामीण-अर्थव्यस्था पर आधारित हो। जिसमें सभी गाँव अपनी ज़रूरत की समस्त आवश्यकतों की पूर्ति स्वयं के संसाधनों द्वारा कर सकें। गांधी सर्वोदय यानी समाज के अंतिम व्यक्ति का कल्याण सुनिश्चित करने के लिए ग्राम-स्वराज की अवधारणा देते हैं। परंतु आज भारत में जो आर्थिक प्रणाली प्रचलित है वह मूलत: पूँजीवादी या भौतिकवादी संस्कृति पर बल देती है जो कि गांधी के आर्थिक चिंतन, लघु एवं कुटीर उद्योग, स्वदेशी, आत्मनिर्भरता, राष्ट्रीयकरण, आर्थिक

एवं राजनीतिक शक्तियों का विकेंद्रीकरण, न्यासवाद, आय तथा संपत्ति की न्यूनतम एवं अधिकतम सीमाएँ आदि से दूर हैं। इसकी शुरुआत 1931 में काँग्रेस के कराची अधिवेशन में उनकी उपस्थिति में मौलिक अधिकारों और आर्थिक कार्यक्रमों पर पारित प्रस्ताव से हुई। जिसमें इस बात की घोषणा की गई कि "राज्य आधारभूत उद्योगों और सेवाओं, खनिज संसाधनों, रेलवे, जलमार्गों, जहाज़रानी और सार्वजनिक यातायात के अन्य साधनों का स्वामी और नियंता होगा।'' इसके पश्चात 1938 में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक 15 सदस्यी 'राष्ट्रीय नियोजन समिति' का गठन किया गया जिसका उद्देश्य समेकित और बहुआयामी विकास के लिए भारत में योजना के क्रियान्वयन का मार्गदर्शन करना था। आज़ादी के तुरंत बाद 1948 में देश की पहली औद्योगिक नीति लाई गई, जिसके अंतर्गत अर्थव्यवस्था को चार भागों में विभक्त कर मिश्रित आर्थिक प्रणाली को अपनाया गया। इसके पश्चात बहुआयामी और समेकित विकास के लिए 1951-52 में प्रथम पंचवर्षीय योजना की शुरुआत हुई तथा देश की खाद्यान्न समस्या को देखते हुये कृषि के विकास बल दिया गया। 1956 में एक नई औद्योगिक नीति लाई गई जिसके तहत देश में मौजूद बेरोज़गारी एवं देश के तीव्र आर्थिक विकास के लिए बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण पर बल दिया गया जिसके अंतर्गत राऊरकेला, दुर्गापुर और भिलाई जैसे औद्योगिक संस्थानों के साथ-साथ कई बड़ी जल परियोजनाओं की शुरुआत हुई, जिनका स्वामित्व राज्य के हाथ में था।

राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान जिस लघु तथा कुटीर उद्योग के गांधीवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया गया था उसे मूर्तरूप देने के लिए 1956 में 'खादी और ग्रामोद्योग आयोग अधिनियम-1956' के तहत एक वैधानिक आयोग की स्थापना की गई जिसका कार्य देश के अंदर खादी के प्रसार एवं ग्रामीण उद्योगों को बढ़ावा देना था। जिसके तहत पूरे देश में गांधी आश्रमों की स्थापना की गई और घरेलू उद्योगों के प्रसार के लिए वित्तीय मदद एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रदान की गई। इसे शुरू के कुछ दशकों में सफलता भी प्राप्त हुई, परंतु 1991 के बाद से खादी आम जनमानस से दूर हो गई और ग्रामोद्योग सूक्ष्म, लघु एवं मध्यम उद्योग के रूप में शहरी एवं अर्ध-शहरी क्षेत्रों में नए स्वरूप के साथ सामने आ रहे हैं जो गांधी की ग्रामोद्योग संकल्पना से भिन्न हैं।

गांधी की स्वदेशी एवं आत्मनिर्भरता की बात करें तो वह हमें दूर-दराज़ के क्षेत्रों को छोड़कर अपने समीपस्थ क्षेत्रों की वस्तुओं का उपयोग एवं उन्हें प्रोत्साहन देने के साथ-साथ उनकी सेवा तक समिति रहने की सीख देती है। क्योंकि गांधी देश के अंदर व्याप्त घोर ग़रीबी और भुखमरी के लिए सबसे बड़ा कारण आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में स्वदेशी को न अपनाने को मानते थे। वे कहते थे कि हमारा और आपका यह कर्तव्य होगा कि हम अपने उन पड़ोसियों की तलाश करें जो हमारी ज़रूरतें पूरी कर सकते हैं और अगर कुछ ऐसे पड़ोसी हैं जिनके पास अच्छे धंधे का अभाव है तो उन्हें सिखाएँ कि वे किस तरह अच्छा काम करके हमारी आवश्यकता की पूर्ति कर सकते हैं। यदि

ऐसा हो तो भारत का हर गाँव स्वावलंबी और स्वयंपूर्ण इकाई बन जाएगा। वह दूसरे गाँवों से उन्हीं चीज़ों का विनिमय करेगा जो उस जगह पैदा नहीं की जा सकतीं। यदि हमारे पड़ोसी उत्पादक की कींमत दूर के उत्पादक से अधिक हो तो भी हमे पड़ोसी के उत्पाद को तरजीह देनी चाहिए। स्वदेशी एवं आत्मनिर्भरता की अवधारणा को ध्यान में रखकर 1956 में देश की पहली 'औद्योगिक नीति' घोषित की गई, जिसमें 'आयात प्रतिबंध' और 'आयात प्रतिस्थापन' के अंतर्गत देश के अंदर औद्योगिक वस्तुओं की बड़ी मात्रा में उत्पादन हेतु व्यापक औद्योगिकीकरण कार्यक्रम आरंभ किया गया और आयात पर यथासंभव रोक लगाने का प्रयास किया गया। कमोबेश यह नीति 1991 तक चलती रही परंतु 1991 में देश गंभीर आर्थिक संकट में फँस गया और जुलाई,1991 में इस नीति का परित्याग कर वैश्वीकरण, निजीकरण एवं उदारीकरण को अपना कर वैश्विक कंपनियों एवं पूँजी को आमंत्रित किया गया। वर्तमान में हमारे आसपास हर छोटी से लेकर बड़ी चीज़ विदेशी क्षेत्रों की उपलब्ध है और हमारे घरेलू उद्योग उनसे प्रतिस्पर्धा करने में पीछे हैं। गांधी जिस आत्मनिर्भरता की बात उस दौर में करते थे देश आज़ादी के सात दशक उपरांत भी उसे प्राप्त नहीं कर पाया है। उसे पुन: प्राप्त करने के लिए वर्तमान में भारत सरकार द्वारा 'आत्मनिर्भर' बनने की बात ज़ोर-शोर से की जा रही है।

गांधी मशीनों को लेकर कहते हैं कि "मुझे आपत्ति मशीनों से नहीं, बल्कि मशीनों के पीछे दीवाना हो जाने से है।'' जो लाखों लोगों को बेरोज़गार बनाकर पूँजीपतियों को शोषण करने का अवसर प्रदान करती है, जिससे आर्थिक असमानता जन्म लेती है। इसलिए वे मशीनीकरण का विरोध कर रहे थे, वहीं दूसरी तरफ वे इस बात की भी अनुमति देते हैं कि जन कल्याण के लिए जिससे लाखों लोगों के जीवन को आसान बनाया जा सके, ऐसे विज्ञान के हर आविष्कार और मशीनों को स्वीकार किया जाना चाहिए परंतु इस तरह के सभी बड़े पैमाने के उद्योगों का स्वामित्व और नियंत्रण पूँजीपतियों के बजाय राज्य के हाथों में हो। 1920 के दशक से ही गांधी के साथ नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, समाजवादी एवं कम्युनिष्ट मत के सभी नेताओं का सुझाव था कि आजादी के बाद भारत एक समाजवादी राज्य बने। आज़ादी के पश्चात देश में लोकतंत्रात्मक समाजवाद को अपनाया गया। 1948 एवं 1956 में जो औद्योगिक नीति लाई गई उसमें संपूर्ण आर्थिक प्रणाली को चार भागों में विभाजित किया गया। सभी जन उपयोगी सेवाओं एवं उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र के अंतर्गत रखा गया और निजी क्षेत्रों को सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों के अनुसार कार्य करने की अनुमति प्रदान की गई। इस दिशा में सबसे क्रांतिकारी कदम 'ज़मींदारी उन्मूलन अधिनियम', रेलवे, रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया जैसे संस्थानों का राष्ट्रीयकरण रहा। इसके उपरांत 1969 में 14 निजी बैंकों,1972 में बीमा का और 1973 में कोयला खदानों का राष्ट्रीयकरण किया गया। 1991 के मध्य तक सभी प्रमुख उद्योग सरकार के हाथों में थे। इसी समय नई औद्योगिक नीति लाई गई जिसमें सिर्फ 8 उद्योगों को छोड़कर सब कुछ निजी क्षेत्रों के लिए खोला दिया गया और

सार्वजनिक उपक्रम का निजीकरण एवं विनिवेश की प्रक्रिया शुरू की गई। आज वर्तमान समय में सिर्फ परमाणु ऊर्जा को छोड़ कर सभी क्षेत्रों को कुछ शर्तों के साथ खोल दिया गया है और सार्वजनिक उपक्रमों को निजी हाथों में सौपा जा रहा है।

आर्थिक विकेंद्रीकरण का तात्पर्य उत्पादन के साधनों का किसी एक के हाथ में संकेद्रित न होकर विशाल रूप में छोटी-छोटी उत्पादक ईकाइयों में होना चाहिए। गांधी का मानना था कि बड़े पैमाने के उद्योगों में एक संक्रामक प्रवृत्ति होती है जो सभी लघु एवं छोटे उद्योगों को नष्ट कर लाखों लोगों को बेरोज़गार बना देती है। यदि इन लघु एवं मध्यम उद्योगों को चलाने के लिए किसी बड़े उद्योग की आवश्यकता हो तो वह राज्य या ग्राम पंचायतों के अधीन होना चाहिए। गांधी के आर्थिक विकेंद्रीकरण को मूर्त रूप देने के लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना में लघु एवं कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देने पर ध्यान दिया गया इसके अतिरिक्त संविधान के भाग-4, राज्य के नीति निदेशक तत्व में राज्यों से इस बात की अपेक्षा की गई की वह ग्रामीण क्षेत्रों में व्यक्तिगत या सहकारी आधार पर गठित कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देगा तथा सहकारी समितियों के स्वैच्छिक गठन, स्वायत्त संचालन,लोकतांत्रिक निमंत्रण और व्यावसायिक प्रबंधन को प्रोत्साहित करेगा। इसके लिए 1992 में 73 वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा ग्राम सभाओं के गठन के साथ इन दायित्वों के निर्वहन की ज़िम्मेदारी ग्राम सभाओं को दी गई। परंतु ग्राम सभाओं के पास इतने पर्याप्त संसाधन नहीं हैं कि वह इन ज़िम्मेदारियों का निर्वहन सुचारु रूप से कर सके वे संसाधनों के लिए वर्तमान में राज्यों पर स्वयं ही निर्भर हैं। जिससे ग्रामीण इलाकों में रोज़गार उपलब्ध न होने के कारण शहरों को ओर पलायन बढ़ रहा है।

गांधी, अहिंसक समाज के लिए आर्थिक समानता को पहली शर्त मानते हैं जिससे कि पूँजीपतियों और लाखों करोड़ों ग़रीबों के बीच की खाई को कम किया जा सके, इसके लिए उन्होने न्यासिता का सिद्धांत प्रतिपादित किया। जिसके माध्यम से वह पूँजीवादी व्यवस्था को समतावादी व्यवस्था में अहिंसक तरीके से परिवर्तन करने का

प्रयास करते हैं, जिसके लिए वे पूँजीपतियों से इस बात की अपील करते हैं कि उनके पास जितनी भी संपत्ति है वह उसके मालिक न बनकर सिर्फ संरक्षक के रूप में उसकी देखभाल करें और अपनी मूलभूल आवश्यकता से अधिक धन अपने पास संचित न करें और अपनी संपत्ति का उपयोग ग़रीबों के भलाई के लिए करें। गांधी उद्यमिता के महत्व को पहचानते थे और वह मानते थे कि उद्यमशीलता के लिए कुछ व्यक्तियों में विशेष योग्यता होती है जिसको नष्ट नहीं किया जा सकता है। इन्हीं सब तथ्यों को ध्यान में रख कर देश में लोकतांत्रिक समाजवाद की अवधारणा को अपनाते हुए सार्वजनिक उपक्रमों के साथ-साथ निजी क्षेत्र को भी कार्य करने की अनुमति दी गई। पिछले सात दशक में अगर हम देखें तो देश के पूँजीपतियों में गांधी के न्यासिता के सिद्धांत को लेकर कोई विशेष पहल नहीं की गई। सरकार द्वारा इन पूँजीपतियों के पूँजी संकेंद्रण पर कोई रोक नहीं लगाई गई। औद्योगिक इकाइयों से 'कॉर्पोरेट टैक्स' के रूप में इनकी आय से कुछ राशि सरकार को प्राप्त होती है। कंपनी एक्ट, 2013 के तहत 1 अप्रैल 2014 से कंपनियों के लिए 'कॉर्पोरेट सोशल रेस्पॉन्सिबिलिटी' नियम वैधानिक रूप से लागू किया गया। जिसमें कंपनियों को उनके कुल मूल्य (नेटवर्थ) और शुद्ध लाभ (नेटप्रॉफ़िट) के आधार पर तीन श्रणियों में बाँटा गया है। जिसके अंतर्गत इन्हें अपने पिछले तीन वर्षों के औसत शुद्ध लाभ का 2 प्रतिशत सामाजिक कार्यों पर खर्च करना अनिवार्य हैं।

अगर हम आय तथा संपत्तियों की न्यूनतम एवं अधिकतम सीमा की बात करें तो गांधी कहते हैं कि "भारत के मुट्ठी भर लोगों के हाथों में पूँजी के संकेंद्रण की ज़रूरत नहीं है, बल्कि उसके इस प्रकार वितरण की ज़रूरत है कि वह 1900 मील लंबे और 1500 मील चौड़े इस देश के साढ़े सात लाख गाँवों को सहज प्राप्य हो सके।'' वे इस बात का भी उल्लेख करते हैं "आर्थिक समानता से आशय यह नहीं है कि सब आदमियों के पास बिल्कुल एक बराबर पैसा होगा। इसका आशय केवल यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास अपनी ज़रूरतों के लायक पैसा होना चाहिए.... आर्थिक समानता का वास्तविक अर्थ है 'प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार।' देश में अगर हम देखें तो 11 जुलाई 2020 को फोर्ब्स की रियल टाइम बिलियनेयर्स की रैंकिंग में भारत के एक उद्योगपति 5.25 लाख करोड़ रुपये की संपत्ति के साथ दुनिया में 7वें सबसे अमीर व्यक्ति है, 2016 से जुलाई 2020के समय में इस उद्योगपति की नेटवर्थ 50 अरब डॉलर (करीब 3.86 लाख करोड़ रुपए) बढ़ी। इस उद्योगपति के पास अभी जितनी संपत्ति है, उतनी जीडीपी तो देश के 9 छोटे राज्यों की है। इन 9 राज्यों की जीडीपी कुल मिलाकर 5.31 लाख करोड़ रुपए है। अगर देश के अंदर संपत्तियों के वितरण को देखों तो वर्ष 2018 में जारी क्रेडिट लुईस ग्लोबल वेल्थ रिपोर्ट के अनुसार देश के 1% लोगों के पास कुल संपत्तियों में हिस्सेदारी 51.5% है जबकि देश के 10% लोगों के पास 77.4% संपत्तियों में हिस्सेदारी है और देश की गरीब 60% जनसंख्या के पास मात्र 4.7% संपत्तियों में हिस्सेदारी है। इस तरह हम देख सकते है कि देश में आय तथा संपत्तियों के न्यूनतम एवं

अधिकतम सीमा की स्थिति क्या है?

आर्थिक उदारीकरण के उपरांत देश में आर्थिक संवृद्धि जो उससे पहले 'हिंदू संवृद्धि दर' से बढ़ रही थी वह पिछले दो दशको से अब 'नव हिंदू संवृद्धि दर' से बढ़ रही है, परंतु इसके बावजूद इस संवृद्धि का लाभ समाज के हर तबके को नहीं प्राप्त हुआ। यह केवल कुछ मुट्ठी भर लोगों के हाथों तक सीमित है। आज भी देश की 21.9% जनसंख्या ग़रीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करती है, पिछले 45 वर्षों में बेरोज़गारी दर सबसे अधिक है और ग्लोबल हंगर इंडेक्स-2019 के अनुसार भारत दुनिया के उन 45 देशों में शामिल है जहाँ भुखमरी काफी गंभीर स्तर पर है और भारत 117 देशों में से 102 रे स्थान पर है। साथ ही देश के अंदर जिस तरह से पर्यावरणीय समस्याएँ सामने आ रही है और आर्थिक असमानता की खाई बढ़ती जा रही है। उसको देखते हुए हमारी सरकारों और समाज को फिर से अपनी आर्थिक प्रणाली पर विचार करते हुए गांधी के बताए हुए रास्तों पर चलने के लिए सोचना होगा, जिसको आज हमारी सरकारों ने गांधी के आर्थिक चिंतन को केवल छोटे एवं कुटीर उद्योगों तक तथा समाज ने उनको केवल '2-अक्तूबर' को याद करने तक सीमित कर लिया है। तभी जाकर हम गांधी के उस अहिंसक, समतामूलक, सहिष्णु और सर्योदयी समाज को बना पाएँगे।

संदर्भ ग्रंथ

1. प्रभु, के.आर.राव, यू.आर. राव, (2012). महात्मा गांधी के विचार. नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया-1994.नई दिल्ली।
2. गांधी. (2012). सर्वोदय. नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद।
3. राय, मनोज कुमार. (2018). बापू ने कहा था. नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया.नई दिल्ली।
4. चंद्र, बिपिन मुखर्जी, मृदुला मुखर्जी, आदित्य. (2017). आज़ादी के बाद भारत हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय- दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली.
5. मिश्र, एस.के.पुरी, वी.के. (2010). भारतीय अर्थव्यवस्था. हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई।
6. लक्ष्मीकांत, एम.के पुरी (2017). भारत की राजव्यवस्था. McGraw Hill Education (India) Private Limited-Chennai.
7. हरिजन पत्रिका, 20 सितंबर 1940 Gandhi Heritage Portal.
8. यंग इंडिया, 23 मार्च 1921, Gandhi Heritage Portal.
9. आर्थिक समीक्षा, भारत सरकार. वित्तीय वर्ष 2017-18, 2018-19, 2019-20

❖❖

महात्मा गांधी का शिक्षा दर्शन एवं आधुनिक शिक्षा व्यवस्था

● श्री चंद्रमणि राय

महात्मा गांधी के शिक्षा दर्शन एवं आधुनिक शिक्षा व्यवस्था के मध्य तुलनात्मक अध्ययन हेतु हमें भारत की परंपरागत शिक्षा पद्धति, ब्रिटिश कालीन अंग्रेज़ी/आधुनिक शिक्षा पद्धति का लागू होना और इसके प्रत्युत्तर में महात्मा गांधी द्वारा बुनियादी शिक्षा एवं नई तालीम के विचारों के प्रकटन का एक तारतम्यता पूर्ण अध्ययन आवश्यक है। इसके उपरांत ही महात्मा गांधी के शिक्षा दर्शन और आधुनिक शिक्षा व्यवस्था के मध्य संबंधों का तुलनात्मक विवेचन सम्भव है।

भारत की परंपरागत शिक्षा पद्धति सामाजिक सहकार से चलने वाली शिक्षा व्यवस्था थी।यह पाठशालाओं, गुरुकुलों, मक़तबों एवं मदरसों के अलावा घरेलू/समाज शिक्षा के माध्यम से चलती थी। इसमें राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं था। इस प्रकार यह एक स्वायत्त शिक्षा व्यवस्था थी। इन शिक्षण संस्थाओं में प्राथमिक स्तर पर अक्षर ज्ञान, अंकगणित तथा नैतिक शिक्षा दी जाती थी। उच्च शिक्षा के रूप में ये विद्यालय न्यायशास्त्र,खगोल विद्या, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, वक्तृत्व कला, तर्कशास्त्र, व्याकरण व साहित्य तथा संगीत व नृत्य की शिक्षा प्रदान करते थे। मक़तबों व मदरसों में भी अक्षर ज्ञान, अंकगणित व दीनी तालीम प्रदान की जाती थी। इन संस्थाओं की प्रकृति धार्मिक तथा अर्ध धार्मिक प्रकार की होती थी। इस शिक्षा व्यवस्था का लाभ कमोबेश सभी जातियों ने उठाया। 1833-34 में ब्रिटिश सरकार ने भारत की परंपरागत शिक्षा व्यवस्था के मूल्यांकन हेतु थॉमस मुनरो के सुझाव पर मद्रास प्रेसिडेंसी का, एडम के नेतृत्व में बंगाल व बिहार प्रेसिडेंसी का और जी.डब्ल्यू. लिटनर के नेतृत्व में पंजाब प्रांत का सर्वेक्षण कराया, जो कि तत्कालीन भारत के कुल भूभाग का तीन चौथाई था। धर्मपाल की प्रसिद्ध पुस्तक "द ब्यूटीफुल ट्री" से प्रेरित तथा सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट, वाराणसी से प्रकाशित अमित की पुस्तक "अंग्रेजों से पहले भारत की शिक्षा व्यवस्था" के अनुसार

“विलियम एडम ने अपनी पहली रपट में कहा था कि 1830 के दशक में बिहार और बंगाल प्रेसिडेंसी में लगभग एक लाख स्कूल थे। मुंबई प्रेसिडेंसी में नए शामिल किए गए इलाकों के बारे में वरिष्ठ अधिकारी जी. एल. प्रेंडरगास्ट का कहना है कि पूरे क्षेत्र में छोटा या बड़ा ऐसा कोई गाँव नहीं है जहाँ कम से कम एक स्कूल न हो। बड़े गाँव में तो एक से ज़्यादा स्कूल भी हैं। 1850 में पंजाब में शिक्षा की स्थिति के बारे में बात करते हुए 1882 में डॉक्टर जी. डब्ल्यू. लिटनर ने भी लगभग ऐसा ही कहा था।’’ इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन भारतीय शिक्षा पद्धति विश्व के अन्य भागों में व्याप्त शिक्षा पद्धति की तुलना में श्रेष्ठ स्थिति में थी।

15वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में पुर्तगाली नाविक वास्को दि गामा के कालीकट तट पर उतरने के साथ ही भारत में ईसाई मिशनरियों का दखल प्रारंभ हो गया। इसी क्रम में पुर्तगालियों द्वारा 1575 में गोवा में प्रथम ग्रैजुएट कॉलेज खोला गया। परंतु 1662 में मुगल सम्राट शाहजहाँ ने पुर्तगालियों की राजनीतिक स्थिति को छिन्न-भिन्न कर दिया। यह मुख्यत: धार्मिक असंतोष के कारण ही था। पुर्तगालियों के बाद डच, फ्रांसीसी, डेनमार्कवासी तदुपरांत ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय शिक्षा व्यवस्था में पहले मिशनरियों एवं इसके बाद सरकारी प्रयासों के माध्यम से दख़ल प्रारंभ किया। वारेन हेस्टिंग्स द्वारा 1781 में कोलकाता मदरसा की स्थापना की गई जिसमें अरबी भाषा के माध्यम से क़ुरान, कानून, गणित, तर्क तथा व्याकरण आदि पढ़ाए जाते थे। वहीं 1791 ईस्वी में जोनाथन डंकन ने बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना की। ब्रिटिश सरकार की तरफ से शिक्षा के क्षेत्र में पहला संगठित प्रयास 1813 के अधिनियम के माध्यम से किया गया। इसमें भारत की शिक्षा व्यवस्था पर एक लाख रुपया खर्च करने की बात कही गई। परंतु 1813 की इस घोषणा के साथ ही ब्रिटिशों के मध्य यह विवाद उत्पन्न हो गया कि शिक्षा के लिए स्वीकृत इस राशि को अंग्रेज़ी शिक्षा पर खर्च किया जाए अथवा भारत की पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था पर। इस विवाद के साथ ही साथ शिक्षा के क्षेत्र में 1833-34 तक प्राच्य बनाम पश्चिम का विवाद चर्चा का विषय रहा। अंततोगत्वा 1835 ईस्वी में लॉर्ड मैकॉले के विवरण पत्र जिसे मैकॉले मिनट्स के नाम से भी जाना जाता है, के द्वारा भारतीयों पर अंग्रेज़ी शिक्षा थोप दी गई। मैकॉले ने भारतीयों पर अंग्रेज़ी एवं पाश्चात्य शिक्षा थोपते हुए कहा था कि “यद्यपि मैं संस्कृत एवं अरबी भाषा के ज्ञान से अनभिज्ञ हूँ... किंतु श्रेष्ठ यूरोपीय पुस्तकालय की मात्र एक अलमारी भारतीय एवं अरबी भाषा के संपूर्ण साहित्य से अधिक मूल्यवान है।’’ महात्मा गांधी ने लगभग सौ साल बाद इस अपमानजनक टिप्पणी का जवाब देते हुए दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने जाने के दौरान 20 अक्टूबर, 1931 को रॉयल इंस्टीट्यूट ऑफ इंटरनेशनल अफ़ेयर्स के मंच से भारत की स्थिति पर बोलते हुए कहा था कि “मैं बगैर किसी भय के कहता हूँ कि आज की तुलना में भारत पचास या सौ साल पहले अधिक साक्षर था। भारत में आने के बाद अंग्रेज़ प्रशासकों ने यहाँ की चीज़ों को यथावत स्वीकार करने के बदले उन्हें उखाड़ना शुरू कर दिया। उन्होंने मिट्टी

खोदकर जड़ें बाहर निकाल कर देखीं और उन्हें वैसा ही खुला छोड़ दिया और इस तरह वह सुंदर वृक्ष नष्ट हो गया।'' मैकाले मिनट्स के बाद वुड्स डिस्पैच एवं हंटर आयोग की सिफारिशों को लागू करके पूर्व की शिक्षा व्यवस्था में थोड़े बहुत सुधारों के साथ आधुनिक शिक्षा के नाम पर भारतीयों पर अंग्रेज़ी शिक्षा थोप दी गई। ऐसी शिक्षा से ना तो व्यवसाय में वृद्धि हो सकती थी और ना ही भारतीयों में नैतिक व राष्ट्रीय भावना का विकास हो सकता था। ऐसी अंग्रेज़ी शिक्षा तो केवल क्लर्क, दुभाषिया एवं ब्रिटिश सरकार तथा भारतीय जनता के बीच मध्यस्थों का ही निर्माण कर सकती थी। यह शिक्षा-पद्धति गरीबों के लिए हानिकारक तथा धनाढ्यों के लिए अंग्रेज़ी प्रशासनिक व्यवस्था में रोज़गार प्राप्त करने का माध्यम बन गई। आज़ाद भारत में प्रचलित आधुनिक शिक्षा प्रणाली भी कार्पोरेट्स के लिए नौकर ही पैदा कर रही है।

महात्मा गांधी को यह भली-भाँति ज्ञात हो गया था कि ऐसी अंग्रेज़ी शिक्षा व्यवस्था भारतीय परंपरा व संस्कृति के साथ-साथ भारतीय पारंपरिक उद्योगों को भी रसातल में ले जाने का काम करेगी। इस अंग्रेज़ी शिक्षा व्यवस्था के विकल्प के रूप में महात्मा गांधी ने 1937 की वर्धा शिक्षा योजना के द्वारा बुनियादी तालीम अथवा नई तालीम अथवा बेसिक शिक्षा पद्धति का विकल्प राष्ट्र के सम्मुख रखा। इस शिक्षा पद्धति का उद्देश्य छात्रों में हाथ के काम के द्वारा आत्मा एवं मस्तिष्क का सामंजस्य स्थापित करते हुए ऐसे नागरिक तैयार करना था जो नैतिकता, सहृदयता, आत्मनिर्भरता, सहजता एवं राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत हो। यह ऐसी शिक्षा थी जिसमें काम को अध्ययन के साथ जोड़कर विद्या अर्जन किया जाएगा। ज़ाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट के अनुसार यह काम स्कूल की पढ़ाई का एक अंग भर नहीं थे बल्कि अन्य विषयों को सिखाने के माध्यम भी थे। इस प्रकार शिक्षा पर होने वाला खर्च विद्यार्थी अपने श्रम से उत्पादित करेंगे जिससे विद्यालय सरकारी अनुदान का सहारा छोड़कर आत्मनिर्भर बन सकेंगे। ऐसी शिक्षा पद्धति विद्यार्थियों का शोषण न करे और विद्यार्थी कोई न कोई रोजगारपरक काम भी सीख लें इसके लिए निरीक्षक एवं शिक्षक नैतिक रूप से समृद्ध तथा अपने कार्यों में दक्ष होंगे। गांधी टॉलस्टॉय फार्म की शिक्षा को याद करते हुए स्वयं कहते हैं कि "टॉलस्टॉय फार्म पर हमने यह नियम बना लिया था कि जो बात शिक्षक ना करें वह बच्चों से ना कराई जाए और इसलिए जब कभी उन्हें कोई काम करने के लिए कहा जाता था तो कोई ना कोई शिक्षक हमेशा उन्हें सहयोग देता और वास्तव में उनके साथ काम करता था। इस प्रकार बालक जो कुछ सीखते थे प्रफुल्लता पूर्वक सीखते थे।'' इससे यह भी ज्ञात होता है कि गांधी की शिक्षा व्यवस्था स्वप्नलोकीय नहीं थी। बल्कि यह अपने बच्चों की घरेलू शिक्षा, टॉलस्टॉय फार्म की शिक्षा व्यवस्था तथा विभिन्न आंदोलनों के दौरान रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से प्रदान की जाने वाली राष्ट्रीय शिक्षा के प्रयोगों का एक सुंदर प्रतिफल थी।

नई तालीम शिक्षा पद्धति के दो भाग थे पहला प्राथमिक शिक्षा जो 7 से 14 वर्षों तक की अनिवार्य शिक्षा थी और दूसरी उच्च शिक्षा। ज़ाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट के अनुसार बुनियादी तालीम के

7 साल की शिक्षा में विद्यार्थियों को बुनियादी दस्तकारी जैसे कढ़ाई और बुनाई, बढ़ईगिरी, खेती, फल और साग सब्ज़ी पैदा करना, चमड़े का काम तथा अन्य कोई ऐसी दस्तकारी जो भौगोलिक और स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल हो, मातृभाषा में शिक्षा, सामान्य गणित की शिक्षा, सामाजिक विज्ञान की शिक्षा, साधारण विज्ञान अर्थात प्राकृतिक विज्ञान, जीव विज्ञान, शरीर विज्ञान, आरोग्य विज्ञान, रसायन शास्त्र, ग्रह नक्षत्रों का ज्ञान, वैज्ञानिक कहानियाँ आदि तथा चित्रकला, संगीत व हिंदुस्तानी भाषा के ज्ञान की शिक्षा को शामिल किया गया था। जबकि उच्च शिक्षा के प्राथमिक प्रयोग के रूप में सबसे प्राथमिक काम जामिया मिलिया इस्लामिया में तदुपरांत आंध्र जातीय कलाशाला मछलीपट्टनम, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ जैसे विद्यालयों में किया गया। परंतु 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ होने और इसके बाद 1942 ईस्वी में भारत छोड़ो आंदोलन के कारण अंग्रेज़ सरकार द्वारा बुनियादी तालीम को सिरे से खारिज़ करने का प्रयास किया गया। परंतु फिर भी नई तालीम संघ, सेवाग्राम के अध्यक्ष आर्य नायकम के नेतृत्व में सेवाग्राम समेत देश के विभिन्न स्थानों पर बुनियादी तालीम के प्रयोग जारी रहे।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि "यह योजना एक ऐसे समाज की कल्पना करती है जिसकी नींव सहयोग पर होगी और जिसमें पढ़ने वालों को बचपन से ही, जबकि उन पर हर चीज़ का गहरा असर पड़ता है, समाज सेवा की धुन लग जाएगी। यहाँ तक कि स्कूलों में शिक्षा पाते हुए भी वे यह समझने लगेंगे कि राष्ट्रीय शिक्षा के इस महान प्रयोग में वे खुद भी हिस्सा बँटा रहे हैं।'' परंतु आधुनिक भारत की शिक्षा व्यवस्था बुनियादी तालीम को पूरी तरह से त्याग कर हरबर्ट मर्क्यूज द्वारा परिभाषित "वन डाइमेंशनल मैन'' के उत्पादन का काम कर रही है। शिक्षा संबंधी कोठारी कमीशन की रिपोर्ट के उपरांत बुनियादी तालीम की पूर्णरूपेण तिलांजलि दे दी गई। 1920 की शिक्षा संबंधी रिपोर्ट भी शिक्षा को कई भागों में विभक्त कर बुनियादी तालीम से पूर्ण रूप से अलगाव प्रदर्शित करती है, क्योंकि गांधी तो स्वयं चाहते थे कि प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक शिक्षाओं को एकाकार कर दिया जाए। इस शिक्षा पद्धति में ऑनलाइन शिक्षा व्यवस्था पर ज़ोर दिया गया है जिसमें छात्र एवं शिक्षक तथा छात्र एवं छात्र के बीच सहयोग एवं परस्पर संवाद

का कोई स्थान ही नहीं है। जबकि बुनियादी तालीम में शिक्षक एवं छात्र के बीच सहयोग एवं पारस्परिक संवाद अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू है।

❖❖

संदर्भ ग्रंथ

1- अमित, अंग्रेजों से पहले भारत की शिक्षा व्यवस्था,सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट (वाराणसी), फरवरी 2017.

2- प्रसाद, देवी, नई तालीम का संदेश, गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली-2 और नई तालीम समिति, सेवाग्राम (वर्धा), 1988.

3- गाँधीजी, नई तालीम की ओर, नवजीवन प्रकाशन मंदिर (अहमदाबाद), 1959.

4- शिवदत्त, नई तालीम- एक विहंगावलोकन, नई तालीम समिति सेवाग्राम, 2012.

5- 75 साल बाद, नई तालीम समिति सेवाग्राम, 2012.

6- चंद्र, निर्मल, नई तालीम का नया आयाम : लोक शिक्षण, सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट (वाराणसी), 1997.

7- साइक्स,मार्जरी, नई तालीम की कहानी, गांधी सेवा संघ, सेवाग्राम- वर्धा, 2014.

8- नई बुनियाद की तालीम : इतिवृत्त, सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट (वाराणसी),1981.

9- गांधी, एम. के., मेरे सपनों का भारत, नवजीवन ट्रस्ट, 1959.

10- पांडे, आर. एस., भारत में शैक्षकि नीति का ढांचा : एक संक्षाप्ति ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, http://www.bhojvirtualuniversity.com/slm/B.Ed_SLM/bedcieb4u1.pdf

11- वर्मा, अंजली,

12-कुमार, कृष्ण, गांधी की नई तालीम,शिक्षा विमर्श, 2010.

13-गांधी, एम. के., राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी,नवजीवन प्रकाशन मंदिर, 1947.

14-गांधी, एम. के., सच्ची शिक्षा, नवजीवन प्रकाशन मंदिर,1950.

15-मिश्र, अनुपम, महात्मा गांधी द्वितीय स्मृति व्याख्यान, राष्ट्रीय शैक्षकि अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, 2009.

16-प्रोफेसर सदगोपाल, अनिल, व्याख्यान शृंखला, गुजरात विद्यापीठ, https://youtu.be/zAAVKBdiwso

17-प्रोफेसर सदगोपाल, अनिल, राष्ट्रीय शिक्षा नीति: लाइनों के बीच क्या छिपा है, https://youtu.be/FCKg6o2mQyo

18- नई तालीम: ए फिल्म ऑन आनंदनिकेतन, https://youtu.be/LM8Lyz1usx8

19- राय, मनोज कुमार, बापू ने कहा था, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली,2018

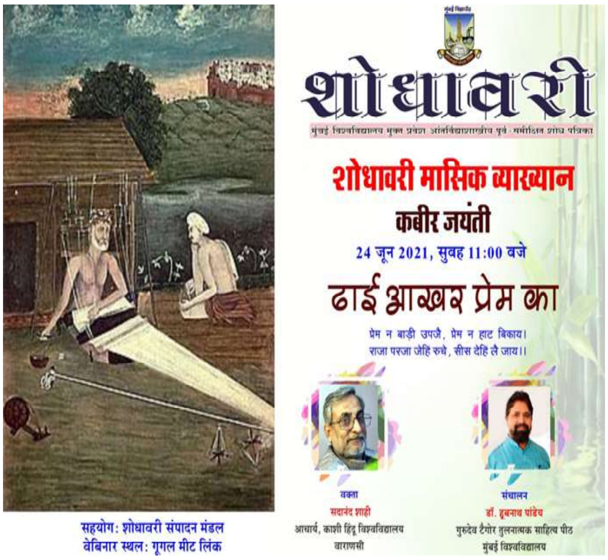

शोधावरी मासिक व्याख्यान

शोधावरी, संभाषण तथा संभाषित शोधपित्रकाओं के वैचारिक प्रेरणास्रोत डॉ. बाबासाहब आंबेडकर की जयंती के उपलक्ष्य में 17 अप्रैल 2021 को डॉ. अभय दोशी के कुशल संयोजन में आंबेडकरी विचार विमर्श विषय पर केंद्रित ऑनलाइन राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन हुआ। हरियाणा राज्य के अपर मुख्य सचिव, आईएएस डॉ राजा शेखर वुंद्रू, एम. एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा, गुजरात के गुजराती विभाग के प्रोफ़ेसर डॉ. भरत कुमार भानुप्रसाद महेता, मुंबई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग के पूर्व अध्यक्ष एवं प्रोफ़ेसर डॉ. रमेश कांबले तथा मुंबई विश्वविद्यालय के मानविकी संकाय के अधिष्ठाता डॉ. राजेश खरात ने इस अवसर पर क्रमश: डॉ. बाबासाहब आंबेडकर के आर्थिक, साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों की महत्ता एवं प्रासंगिकता का सार्थक विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस अवसर पर अनेक विद्वानों, प्राध्यापकों तथा शोधार्थियों ने जीवंत बहस के ज़रिए संगोष्ठी को सफल बनाया।

24 जून 2021 संत कबीर जयंती के उपलक्ष्य में कबीर के प्रेम दर्शन पर राष्ट्रीय ऑनलाइन संगोष्ठी का आयोजन किया गया। संत साहित्य के मर्मज्ञ तथा काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष डॉ. सदानंद शाही ने अत्यंत सरलता और सहजता से कबीर की प्रेम की अवधारणा तथा संत साधना में प्रेम के महत्व पर अपने विचारों को अभिव्यक्त किया। प्रोफ़ेसर शाही ने कबीर की रचनाओं के हवाले से यह स्पष्ट कर दिया कि कबीर चिंतन का केंद्रीय भाव है, प्रेम। समानता, सामाजिक न्याय तथा मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा प्रेम के अभाव में कदापि संभव नहीं। यह प्रेम सिर्फ.आराध्य के प्रति नहीं बल्कि मानव मात्र के प्रति हो तो ही साधना सार्थक होती है वर्ना वह कर्मकांड बनकर रह जाती है। इस प्रेम में ही कबीर का समाज दर्शन, साहित्य दर्शन एवं अध्यात्म दर्शन निहित है।

लखनऊ विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रोफ़ेसर रमेश दीक्षित ने अपनी विद्वतापूर्ण टिप्पणी से संगोष्ठी को जीवंतता प्रदान की।

शोधावरी संपादन मंडल तथा शोधार्थियों की उपस्थिति ने आयोजन को संबल प्रदान किया।

❖❖

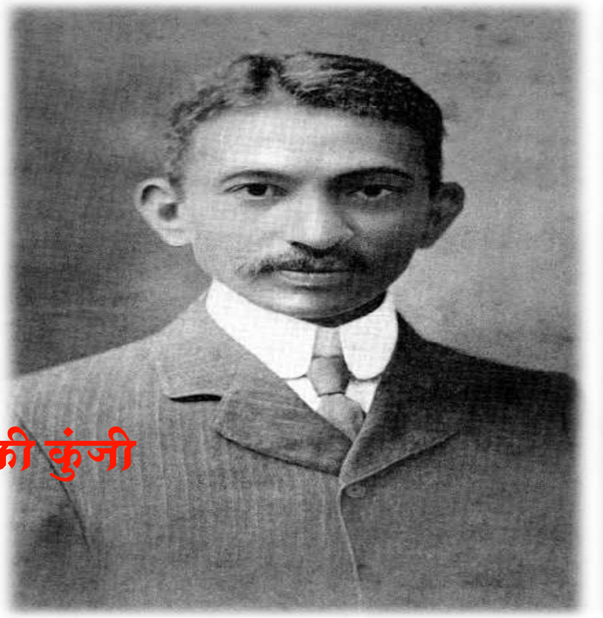

हिंद स्वराज को समझने की कुंजी

● डॉ. रमाकांत राय

महात्मा गांधी द्वारा लिखित 'हिंद स्वराज' एक ऐसी पुस्तक के रूप में जानी जाती है जिसके विषय में प्रकाशन के समय से ही चर्चा-परिचर्चा प्रारंभ हो गई थी। मूलत: गुजराती में लिखित इस किताब का अंग्रेज़ी अनुवाद भी स्वयं गांधी जी ने किया था। गांधी जी ने यह किताब लंदन से केपटाउन जाते समय पानी के जहाज़ की अपनी 21 दिनी यात्रा के बीच में लिखा था। यह संवाद-शैली में है जिसमें एक पाठक और संपादक की बातचीत है। इसमें संपादक द्वारा दिए गए जवाब ही महात्मा गांधी का पक्ष हैं। यह बताना भी ज़रूरी है कि इस पुस्तक को प्रकाशन के बाद अंग्रेज़ी सरकार ने ज़ब्त कर लिया था। इसके बाद गांधीजी ने इसका हिंदी और अंग्रेज़ी संस्करण छपवाया। इस पुस्तक को पढ़कर गांधीजी के राजनीतिक गुरु गोपालकृष्ण गोखले की धारणा थी कि यह किताब 'बचकाना' है और 'जल्दीबाज़ी में लिखे गए अपने इस विचार को गांधी जी जल्दी ही नष्ट कर देंगे'। हालाँकि गांधी जी ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा था कि "मेरी यह छोटी सी किताब इतनी निर्दोष है कि बच्चों के हाथ में भी यह दी जा सकती है। यह किताब द्वेषधर्म की जगह प्रेमधर्म सिखाती है; हिंसा की जगह आत्म-बलिदान को स्थापित करती है; और पशुबल के खिलाफ टक्कर लेने के लिए आत्मबल को खड़ा करती है।"

हिंद स्वराज गांधीवादी दर्शन की आरम्भिक और मौलिक कृति है। इसके विषय में लार्ड लोथियन ने कहा था कि 'गांधी जी आजकल जो कुछ भी कह रहे हैं वह इस छोटी सी किताब में बीज के रूप में है, और गांधी जी को ठीक से समझने के लिए यह किताब बार-बार पढ़नी चाहिए।' इस पुस्तक की उपादेयता को लेकर गांधी जी के जीवनकाल में ही प्रश्न उठ रहे थे लेकिन अपने आख़िरी समय में भी गांधीजी ने स्वीकार किया था कि 'उसमें से मैंने सिर्फ़ एक ही शब्द - और वह एक महिला मित्र की इच्छा को मानकर

-रद्द किया है। उसे छोड़कर कुछ भी फेरबदल नहीं किया है।' यह बात इस तथ्य को भी पुष्ट करती है कि निरन्तर विकासमान व्यक्तित्व वाले गांधीजी अपने विचारों के मामले में कितने अडिग और निष्ठावान थे।

हिंद स्वराज वस्तुत: सभ्यता विमर्श है। गांधी जी कहते हैं कि इस किताब में आधुनिक सभ्यता की सख़्त टीका है। आधुनिक सभ्यता की यह टीका अद्यावधि तक विद्वानों को आकर्षित कर रही है और वर्तमान समय में तो यह बहस और भी तेज़ हो गई है। हिंद स्वराज के पचास वर्ष पूरा होने पर 'आर्यन पथ' मासिक पत्र ने 'हिंद स्वराज अंक' निकाला था जिसमें कई विद्वानों ने हिंद स्वराज के बहाने से दुनियावी सभ्यता को समझने की कोशिश की थी और पुस्तक को ज़रूरी बताया था। शताब्दी वर्ष में गांधी जी की इस किताब पर कई महत्त्वपूर्ण टीका और व्याख्यापरक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। एस आर. मेहरोत्रा, मार्गरेट चटर्जी, बी.आर.नंदा, कनक तिवारी और भगवान सिंह का हिंद स्वराज पर किया गया काम बहुत सराहा गया है। इसी क्रम में मनोज कुमार राय की किताब 'हिंद स्वराज- अर्थ अमित आखर अति थोरे' इस विनम्र निवेदन के साथ आई है कि 'पिछले चार-पाँच वर्षों से हिंद स्वराज पर इतनी चर्चा हुई कि मैं भी बिना कुछ समझे-बूझे इस बहती धारा में वैसे ही कूद पड़ा जैसे कोई बच्चा जमकर हो रही बारिश में एक झटके से बाहर की तरफ वर्षा आनंद के लिए कूद जाता है।' यह विनम्रता निवेदन तुलसीदास की तरह ही मानी जानी चाहिए जैसा कि उन्होंने रामचरितमानस जैसी कृति रचते समय की थी- 'कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।।'' वस्तुत: मनोज कुमार राय की यह किताब हिंद स्वराज को समझने की एक कुंजी है। इसमें लेखक ने चार शीर्षकों में हिंद स्वराज की रचना प्रक्रिया, उसके मर्म और भविष्य में उसकी प्रासंगिकता पर भावात्मक आलोचना की शैली में विचार किया है। यह आलेख बहुत सुचिंतित और अर्थ-गौरव से संपन्न है। इनका शीर्षक भी बहुत रचनात्मक है तथा गहरी व्यंजना करता है। 'जब रहा ही नहीं गया' शीर्षक बेचैनी, रचना प्रक्रिया और आधुनिक सभ्यता समीक्षा के लिए कसमसाते एक युवक की मन:स्थिति के लिए बहुत सटीक शीर्षक है। गांधीजी लंदन में रहते हुए लगातार इस बात को महसूस कर रहे थे कि हिंसा का रास्ता हमारा यानी भारतीय लोगों का रास्ता रहा ही नहीं है। भारतीयों की परंपरा तो आत्मत्याग की रही है। गांधीजी ने 1908 में लिखा- "याद रखिए कि हम प्रह्लाद और सुधन्वा की संतानें हैं। वे दोनों ही शुद्धतम ढंग के सत्याग्रही थे।... उन्होंने अपने उत्पीड़कों को कष्ट

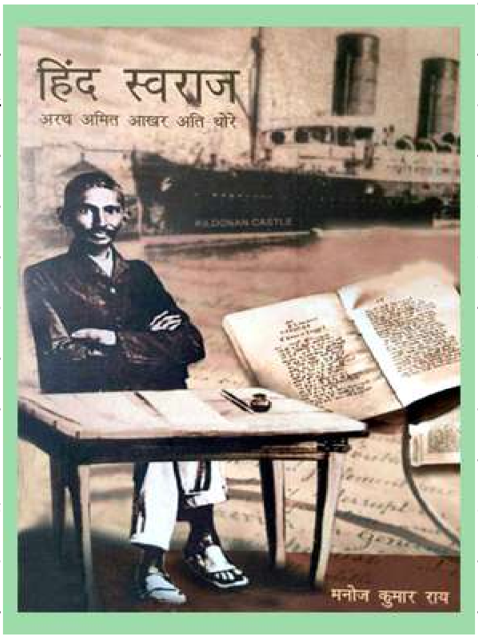

देने के बजाय घोर कष्ट सहे।'' *(पृष्ठ संख्या-42)* किताब बहुत सहज तरीके से स्थापित करते हुए विश्लेषित करती है कि गांधी जी का पीर पराई जानने वाला वैष्णव मानस गीता, रामचरितमानस और नरसी मेहता से बना था। 'जब रहा ही नहीं गया' शीर्षक में इसी बनावट को बहुत सरल और सरस अंदाज में रखा गया है। 'बहुत पढ़ा बहुत सोचा' शीर्षक गांधी जी की सुचिंतित विचार प्रणाली की तैयारी के बारे में है। दुनिया भर के बेहतरीन साहित्य और लोगों से सीखकर गांधी जी एक सुनिश्चित निष्कर्ष पर पहुँचे थे। यह पहुँचना इतना सटीक था कि कालांतर में वह इसको क्रियाशील करने के लिए प्रयासरत रहे। 'उद्देश्य सिर्फ सेवा' और 'सुभीते के लिए संवाद' भी हिंद स्वराज को समझने के लिए लिखे गए निबंध हैं। लेखक ने अनेकश: ज़ोर देकर कहा है कि यह नियति के फलस्वरूप था। यह बात किंचित भाग्यवादी प्रतीत होगी लेकिन जब हम रचना-प्रक्रिया का अध्ययन करेंगे तो यह भाग्यवादी नहीं अपितु कर्मवीर गांधी के लिए सटीक विशेषण प्रतीत होगा।

इस कृति में यह बात गहरे स्थापित है कि शौर्य, धैर्य, सत्य, शील ही गांधी के अस्त्र हैं। वे इन्हीं के बल पर आज़ादी चाहते हैं। गांधी जी ने यह अस्त्र भारतीय और पाश्चात्य वाङ्मय से अर्जित किए थे। गीता, उपनिषद, रामचरितमानस, लिओ तोल्स्तोय आदि का न सिर्फ़ गहन अध्ययन था, बल्कि गांधी जी ने उन्हें आत्मसात भी किया था। स्वराज के सूत्र वहीं से लिए गए हैं। गांधी जी की व्यापक अध्ययन-वृति को इस किताब में जिस सिलसिलेवार तरीके से रखा गया है, वह गहन शोध का परिचायक तो है ही, इस बात की तरफ सहज ही संकेत कर देता है कि गांधी कितने अच्छे पाठक और श्रोता थे। मनोज कुमार राय के लिखे इन निबंधों में हिंद स्वराज को समझने और उसके मूल स्वर को पहचानने की कोशिश है। इस कोशिश में लेखक इतना तल्लीन है और इतना रमा हुआ कि यह निबंध बहुत भावात्मक बन पड़े हैं। हिंद स्वराज और गांधी जी के जीवन का विवेचन करने के क्रम में जिस तरह रामचरितमानस, रामकाव्य परंपरा से जुड़े साहित्य और कुबेरनाथ राय के निबंधों के अंश प्रस्तुत हैं, वह एक शुष्क और नीरस मानी जाने वाली विधा- आलोचना के विपरीत बहुत सरस और भावपूर्ण हो गए हैं। 'अरथ अमित आखर अति थोरे' में भी यही व्यंजना काम कर रही है। इन निबंधों की एक दूसरी विशिष्टता यह है कि यह निबंध जहाँ बहुत सरलता से गांधी जी की इस रचना के मर्म को उद्घाटित करते हैं, वहीं पाठक के मनो-मष्तिष्क को झकझोर देते हैं। अचानक से उद्धृत कोई काव्य पंक्ति- कोई उद्धरण न सिर्फ़ गांधी जी की रचना प्रक्रिया अथवा पुस्तक के अर्थ को खोल देती है अपितु पाठक के सामने एक विस्तृत गवाक्ष का रास्ता भी सुझा देती हैं। कहने का आशय यह है कि यह निबंध आलोचना प्रक्रिया में ललित और भावप्रवण हैं और मर्म भेदने में सक्षम हैं।

यह कृति 'हिंद स्वराज-अर्थ अमित आखर अति थोरे' न सिर्फ़ 'हिंद स्वराज' को पढ़ने-गुनने के लिए प्रेरित करती है अपितु गांधी जी के व्यक्तित्व के बारे में भी बताती है। इस कृति के निबंधों को पढ़ने पर किसी शोध आलेख का नहीं

बल्कि ललित निबंध का सा आनंद मिलता है। उनकी आलोचना ऐसे वाक्यों से भी शुरू हो सकती है- "सत्यनिष्ठा तो गांधी जी को घुट्टी में मिली थी।'' "व्यक्ति की आर्थिक स्वतंत्रता गांधी के स्वराज रूपी पंचामृत का तीसरा पड़ाव है।'' "स्वराज रूपी पंचामृत का अंतिम तत्त्व है- आत्मानुशासन।'' "जिस स्वराज की बात गांधी जी करते हैं, वह उधार खाते अथवा दान में नहीं मिलती अपितु इसके लिए स्वयं का प्रयत्न अपेक्षित है। इसमें बाहरी बल का कोई काम नहीं होता।'' "मगर गांधी तो गांधी ठहरे। सदा 'शांत-नीरव-निभृत-स्वर' को सुनने की चेष्टा करना और तब निर्णय पर पहुँचना उनकी नियति बन चुकी थी।'' यह आत्मीयता युक्त आलोचना पद्धति गांधी के प्रति बहुत सदाशय है क्योंकि गांधी के दर्शन को यहाँ आत्मसात करके लिखा गया है। यह गुण इस कृति की पठनीयता को बढ़ाती है। उद्धरण के तौर पर जिस अंदाज में रामचरितमानस और कुबेरनाथ राय के निबंधों के अंश आए हैं, उससे रचना का आस्वाद द्विगुणित हो जाता है। इस कृति की यह विशिष्टता कही जाएगी कि यह कुबेरनाथ राय के प्रति भी आपको जिज्ञासु बनाएगी जो न सिर्फ़ बेहतरीन निबंधकार हैं, वैष्णव हैं, बल्कि गांधी वाङ्मय के मर्मज्ञ भी हैं। कुबेरनाथ राय की कृति 'पत्र मणिपुतुल के नाम' गांधीवादी सिद्धांतों की ही निबंधात्मक व्याख्या है और वह भी सर्वथा नई शैली में। मनोज कुमार राय ने इस कृति को जिन तीन लोगों को समर्पित किया है, उसमें कुबेरनाथ राय भी हैं और इस कृति में हिंद स्वराज को समझने के कई सूत्र उनकी रचनाओं से लिए गए हैं।

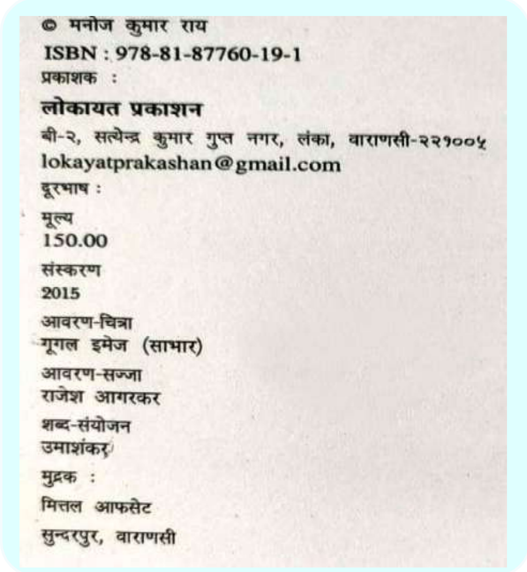
© मनोज कुमार राय
ISBN : 978-81-87760-19-1
प्रकाशक :
लोकायत प्रकाशन
बी-२, सत्येन्द्र कुमार गुप्त नगर, लंका, वाराणसी-२२१००५
lokayatprakashan@gmail.com
दूरभाष :
मूल्य
150.00
संस्करण
2015
आवरण-चित्रा
गूगल इमेज (साभार)
आवरण-सज्जा
राजेश आगरकर
शब्द-संयोजन
उमाशंकर
मुद्रक :
मित्तल आफसेट
सुन्दरपुर, वाराणसी

मनोज कुमार राय अहिंसा और शांति सिद्धांतों के गहन अध्येता हैं। उनकी यह कृति, जिसमें गांधी जी द्वारा रचित पुस्तक अपने मूल रूप में भी है- 'हिंद स्वराज' की एक ज़रूरी भूमिका है। ऐसे तो गांधी जी की किताब बहुत सीधी, सरल है और उन्हीं के शब्दों में बहुत निर्दोष भी लेकिन जैसा कि आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने एक निबंध में लिखा है- 'सीधी लकीर खींचना बहुत टेढ़ा काम है' गांधी जी की इस किताब को समझना भी उससे कम नहीं। यह जितनी सहज है, उतनी ही अधिक मार्मिक व्याख्या की माँग भी करती है। बिना इस भावभूमि तक पहुँचे इस बात का अंदेशा रहेगा कि हम हिंद स्वराज को सही से समझ पाए हैं? जैसा कि विद्वानों ने गांधी जी के यंत्रों के प्रयोग के संबंध में आशंका प्रकट की है और उनसे असहमति जताई है। इसलिए गांधीजी की इस कृति को एक सहृदय टीकाकार की आवश्यकता है, जिसे मनोज कुमार राय सहज ही कर सकने में सक्षम हुए हैं।

❖❖

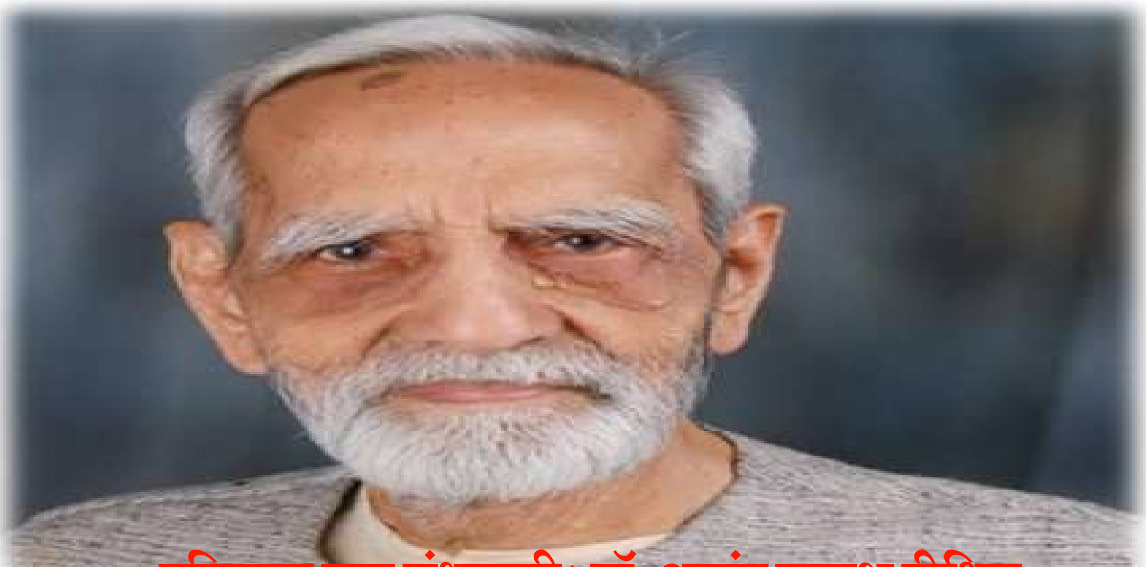

हरिचरण दास ग्रंथावली: डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित

● डॉ. ओमप्रकाश शर्मा

स्व डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित के मरणोपरांत उनकी सुपुत्री सुश्री प्रा. मधुरिमा दीक्षित ने हरिचरणदास ग्रंथावली भाग-2: कोश खंड प्रकाशित की। डॉ. दीक्षित ने हरिचरण दास ग्रंथावली (काव्य खंड) का संपादन एवं प्रकाशन सन 1974 ई. में मनीषी प्रकाशन, मेरठ से, किया।

कवि, आचार्य, कोशकार, टीकाकार, भक्त तथा बहुभाषाविद की बहुमुखी प्रतिभा से संपन्न हरिचरणदास, मध्यकालीन हिंदी साहित्य के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। उनका जन्म वि.सं. 1766 और मुत्यु वि.सं.1855 या उसके पश्चात हुई। उनका रचनाकाल राजा बिरदसिंह के शासनकाल तक सीमित रहा है।

डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित भूमिका में लिखते हैं, अनेक और बहुविध ग्रंथों के प्रणेता होने पर भी कुछ वर्षों पहले तक उन ग्रंथों के सामान्यत: उपलब्ध न होने या शोधकों और साहित्येतिहासकारों के दृष्टिपथ में न आ सकने के कारण इनका कोई प्रामाणिक परिचय आलोचना और साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में नहीं मिलता रहा। हिंदी साहित्य के उत्तर-मध्यकाल के इस महत्वपूर्ण रचनाकार के विषय में प्राय: प्रकीर्ण सामग्री ही अधिक मिलती रही। अगस्त सन 1966 में पूना विश्वविद्यालय (अब सावित्रीबाई फुले पुणे विद्यापीठ) पुणे के हिंदी विभाग के आचार्य तथा अध्यक्ष पद का भार सँभाल लेने पर विश्वविद्यालय के 'जयकर ग्रंथालय' में सुरक्षित आठ सौ से अधिक हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों का रहा-सहा विवरण तैयार कराते समय वहाँ उपलब्ध इस कवि के ग्रंथों पर हमारा ध्यान गया। सन 1969 ई. तक हमारी खोज में इनके पर्याप्त ग्रंथ लगे, जिनके आधार पर हमने पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ के हिंदी विभाग की शोध-पत्रिका 'परिशोध' तथा आगरा विश्वविद्यालय, आगरा की कन्हैयालाल मुणशी भाषाविज्ञान तथा हिंदी विद्यापीठ की शोध-पत्रिका 'भारतीय साहित्य' में उसी वर्ष इनकी तब तक सर्वथा अज्ञात वीर रसात्मक मुक्तक रचना को 'प्रतापसिंह बिरुदावली' नाम देकर, तथा ज्ञात किंतु

अप्रकाशित इनके नायिकाभेद और रस-विषयक 'भाषादीपक' नामक ग्रंथ के स्वसंपादित पाठ और उसकी आलोचना को प्रकाशित करा दिया।''

हरिचरण दास के नाम पर 17 ग्रंथ हैं। परंतु 'भागवत प्रकाश', 'तुर्की प्रकाश', 'कवि चातुरी' ये तीनों ग्रंथ अप्राप्य हैं। इनके अन्य ग्रंथ हैं- 'रामायण सार', 'बृहत्कविवल्लभ', 'दोष निरूपण', 'भाषा भूषण की टीका', 'भाषा भूषण सूत्रपाठ', 'रसिक प्रिया की टीका', 'भाषादीपक', 'बिहारी सतसई की हरिप्रकाश टीका', 'श्रुतिभूषण', 'कविकर्णाभरण' और 'लघु कर्णाभरण'।

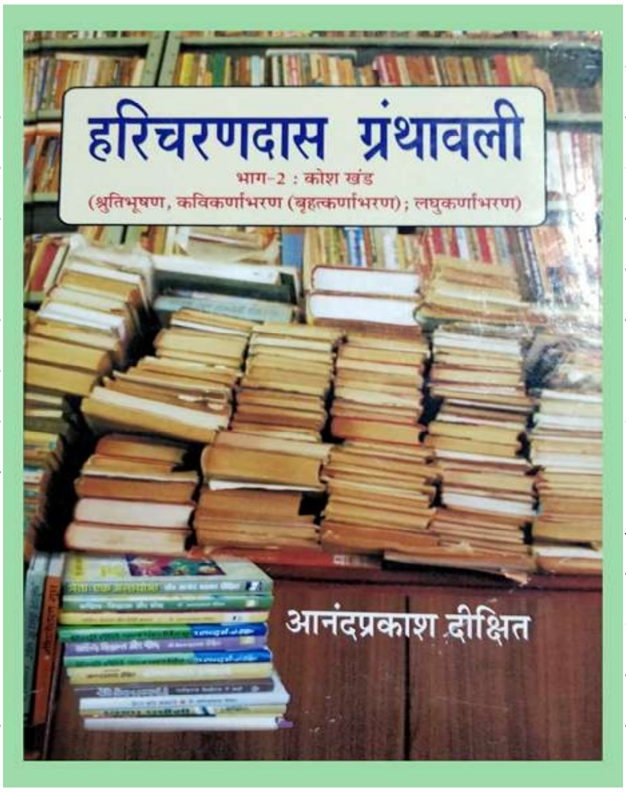

डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित हिंदी साहित्य जगत में 'पाठालोचक' के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। हरिचरण दास ग्रंथावली भाग- 2 कोश खंड है जिसमें श्रुतिभूषण, कवि कर्णाभरण और लघु कर्णाभरण इन तीन कोशों का समावेश किया गया है।

आचार्य, डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित हरिचरणदास के बारे में लिखते हैं, ''ये ग्रंथ प्राय: एक दूसरे से विषय, विधा और रूप में भिन्न हैं और इनकी बहुमुखी प्रतिभा के प्रमाण हैं। इनके आधार पर ये एक-साथ मुक्तक और प्रबंधकार कवि, आचार्य, बहुभाषाविद, कोशकार तथा टीकाकार के रूप में उभरते हैं। इन सभी क्षेत्रों में उनकी गहरी और व्यापक पैठ है। कवि के रूप में वे रसायनलंकार पर अपने सहज अधिकार का परिचय देते हैं, लेकिन स्वभाव से वे रसवादी हैं। तथापि भक्ति तथा वीररस उनके प्रधान रस हैं, जबकि शृंगार मर्यादित है। उनकी भक्ति मुख्यत: श्री युगल-किशोर की भक्ति है, किंतु श्रीकृष्ण तथा श्रीराम में वे भेद नहीं मानते। इसलिए उन्होंने दोनों में से संबंधित काव्य की रचना की है- 'भागवतप्रकाश' तथा 'रामायणसार'। काव्यशास्त्र के वे सक्षम आचार्य हैं। उनकी गणना सहज ही सर्वांग निरूपक आचार्यों में की जा सकती है। उनकी टीकाएँ भी काव्यशास्त्र पर उनके अधिकार का समुज्ज्वल प्रमाण है। टीकाकार वे रसालंकारादि के शास्त्रीय और कठिन ग्रंथों के तो हैं ही, बिहारी जैसे शब्दलाघव के धनी और रीतिसिद्ध कवि की रचना के भी हैं। शास्त्रनिष्ठा और अचूक अभिव्यक्ति के दृढ़ विश्वासी होने के कारण मूल लेखक की लक्षणोदाहरणगत त्रुटियों का संस्कार- परिष्कार करने में वे संकोच

नहीं करते। उन्होंने 'भाषा भूषण की टीका' में डंके की चोट घोषित किया है कि उसमें वे चंद्रलोक के आधार पर यथावश्यक परिवर्तन कर रहे हैं। अन्यान्य पूर्ववर्ती संस्कृत तथा हिंदी के कवियों की रचनाओं का अंतरंग और गंभीर ज्ञान उनके विवेचन की शक्ति है।

क) श्रुतिभूषण: श्रुतिभूषण की अब तक केवल दो हस्तलिखित प्रतियाँ ही प्राप्त हुई हैं। दुर्भाग्य से दोनों ही अधूरी हैं। किंतु कविकृत 'भाषादीपक', 'कविकर्णाभरण' तथा 'लघु कर्णाभरण' के अंत: साक्ष्य के आधार पर इन तीनों कोशों का रचनाक्रम बैठाया जा सकता है। कवि के 'कविकर्णाभरण के निम्नलिखित दोहे से ज्ञात होता है कि श्रुतिभूषण की रचना पहले हुई। यथा,

श्रुति भूषण नानार्थ की, पहिलै रचना कीन।
अनेकार्थन लिषयौ इहाँ, लषिहैं सुकवि प्रबीन।।

'श्रुति भूषण' की दोनों प्रतियाँ राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में उपलब्ध हैं।

'श्रुतिभूषण' अनेकार्थ कोश है, पर्याय- कोश नहीं है। श्री कृपाशंकर तिवारी ने इस ग्रंथ का जो परिचय दिया है उससे इसके पर्याय कोश होने का भ्रम होता है। रचनाकार ने स्वयं ग्रंथारंभ के आठवें छंद में स्पष्टत: कहा है- ''अनेकार्थ श्रुतिभूषणहि करौ ग्रंथ बहू जोय। 'ग्रंथ बहू जोय' कथन से इस बात की सूचना भी मिलती है कि इस कोश की रचना में कवि ने अनेक ग्रंथों- विशेषत: कोश ग्रंथों और कदाचित अन्य सामान्य ग्रंथों का सहारा लिया है।

किसी कोशकार की सिद्धि इसी बात में है कि वह प्रचलित शब्दार्थ को ग्रहण करके समकालिक आकांक्षाओं की पूर्ति भी करें और अपने कोश को नव्यता तथा संपूर्णता प्रदान करें। हरिचरणदास के कोश में जैसे एक ओर जिहान, नूर, हुजूर, मजूर, गुरुर आदि बेझिझक आ विराजे हैं, वैसे ही दूसरी ओर सर्व प्रचलित तेग, ढोल, इसारा, जेवरी, तारीफ, कबूतर, मुर्गा, दरियाई तथा सिगड़ी जैसे शब्द बिना किसी वर्ण-भेद के केवल लोकग्राह्यता के बल पर अपनी सार्थक भूमिका निभा रहे हैं।

कोश-रचना जैसे नियमित कार्यों में पद्य रचना की अपनी विवशताएँ भी कम नहीं होती। विशेषत: तुक के संदर्भ में सार्थक शब्द के प्रयोग का ही आग्रह कई बार चल नहीं पाता। हरिचरणदास समर्थ और सजग रचनाकार है और ऐसी स्थितियों के दुष्परिणामों से परिचित हैं। इसलिए वे अपने सभी कोशों में पाठक का ध्यान इस ओर आकर्षित करने में चूकते नहीं कि उन्होंने तुक के लिए निरर्थक शब्दों का प्रयोग भी यत्र-तत्र किया है जिससे पाठक को भ्रमित नहीं होना चाहिए। 'श्रुतिभूषण' में भी उन्होंने द्वयक्षर काण्ड के दूसरे छंद में इस स्थिति की स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है:

इहाँ अनर्थक हू लिषौं, केतक तुक के अंत।
सार्थ कियै न समात है, सब्द बहुत लषि संत।।

ख) कविकर्णाभरण (कर्णाभरण अथवा बृहद कर्णाभरण)

कवि कर्णाभरण के दो और नाम भी प्रचलित है- 1. कर्णाभरण तथा 2. बृहद कर्णाभरण। अभी तक इसकी केवल तीन ही हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हो सकी हैं। आगरा विश्वविद्यालय के कन्हैयालाल मुणशी हिंदी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ के संग्रहालय में सुरक्षित ग्रंथों में इसका नाम 'कर्णाभरण' है।

किंतु प्रति के हाशिए में लिखा ग्रंथनाम- सूचक 'कवि' इसके 'कवि कर्णाभरण' नाम की ओर संकेत करता है। हो सकता है यह कभी बाद में लिखा गया हो। सावित्रीबाई फुले पुणे विद्यापीठ के जयकर ग्रंथालय में इसे 'कविकर्णाभरण' कहा गया है। राप्रविप्र, जोधपुर की ग्रंथ तालिका में यह 'बृहदकर्णाभरण' नाम से अंकित है। श्री शिवपूजन सहाय कृत 'हिंदी साहित्य और बिहार' में तथा 'दिग्विजयभूषण' की डॉ.भगवती प्रसाद सिंह लिखित भूमिका में यही 'कर्णाभरण कोश' के नाम से दर्ज है। 'हिंदी साहित्य का बृहद इतिहास भाग 7' और डॉ. सत्येंद्र लिखित 'ब्रज साहित्य का इतिहास' में इसे 'कर्णाभरण' कहा गया है। तथ्य यह है कि इसकी प्राप्त प्रतियों में इसका नाम मुख्यत: 'कर्णाभरण' ही प्राप्त होता है। जयकर ग्रंथालय तथा राप्रविप्र, जोधपुर की प्रति में एकमात्र प्रथम कांड (स्वरादि कांड) की समाप्ति पर इसका नाम 'कवि कर्णाभरण' दिया गया है।

'कवि कर्णाभरण' कोश में तीन कांड हैं और उनमें क्रमश: 10, 10 तथा 3 अर्थात कुल 23 वर्ग हैं। प्रथम कांड के आरंभ में वर्गारंभ से पूर्व 14 छंदों में क्रमश: राधा-मोहन चरण वंदना, राधा-नखशिख, सीता-राम गुणगान, श्रीकृष्ण की बाँसुरी के प्रति व्यंगात्मक वंदन तथा प्रभु- प्रार्थना के मंगलाचरण- स्वरूप पाँच छंदों के अतिरिक्त तीन दोहों में इस ग्रंथ में इसके रचयिता द्वारा अपनाई गई वर्ण-व्यवस्था अर्थात इसके लेखन में कौन-कौन से वर्ण त्याग दिए गए और उनके स्थान पर स्वीकार किए गए वर्णो को देकर चौपाई छंद में राधिका जी की सखियों के आठ नाम बताने के उपरांत दो दोहों में राधिका जी के नाम, एक दोहे में तुलसी नाम और पुन: दो दोहों में नंदनंदन नाम पर्याय दिए गए हैं। मंगलाचरण के पाँच छंद दोहा, कवित्त तथा सवैया छंद में रचित हैं।

उक्त 14 छंदों के बाद छप्पय छंद में स्वर्ग-नाम दिए गए हैं। पंद्रहवें छंद में स्वर्ग-नाम पर्यायों के साथ अमर नाम-पर्याय भी सम्मिलित हैं। इस ग्रंथ की प्राप्त प्रतियों में किसी भी वर्ग के आरंभ होने पर उसका नाम -शीर्षक नहीं दिया गया है। केवल वर्ग की समाप्ति पर ही उसकी सूचना दी गई है। प्रथम कांड का यह प्रथम स्वर्ग- वर्ग सैतालीसवें छंद के समाप्त होने पर समाप्त होता है। इसमें असुर और जिनके नाम पर्याय और नवनिधियाँ भी सम्मिलित हैं। साथ ही इसमें हरि के शंख, चक्र, गदा, मणि, आसि, अश्व, सारथी और वाहन, शंभू के जटाजूट, धनुष, परिषद एवं विभूति; इंद्र के अश्व, नगरी, प्रासाद, हाथी, आयुध और विमान; अग्नि के बड़वानल, दावानल,ज्वाल, अग्निकण, भस्म और संताप तथा कुबेर के पुत्र, विपिन, पुरी और विमान के नाम एवं यथावश्यक पर्याय भी दिए गए हैं।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में और हिंदी की विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों में और भी पर्याय प्राप्त और प्रचलित हैं। हरिचरणदास ने पद्य में नाम- रचना की विधि इस प्रकार बताई है-

धर, भृत, भू वाचक परैं, दरी परैं सु लगाय।
कूटवान सृंगी कहै, पर्बत नाम लषाय।।

इसी दोहे के नीचे कवि ने रचित शब्दों के उदाहरण दिए हैं, जैसे- धर इति।। अवनीधर। अचलाधर। रसाभृत। छमाभृत। दरीधर। कंदरभृत।।

हिंदी पाठकों की सरलता के लिए पर्याय शब्दों

में प्रचलित अरबी-फ़ारसी के शब्दों को भी कोश में स्थान मिला है। जैसे- चाबुक, लगाम, जीन, षुगीर का प्रयोग क्रमशः संस्कृत कशा, कविका या खलिन, पर्याण तथा पल्यान के लिए किया गया है। शब्द-रूप या उसकी रचना की दृष्टि से भी इस कोश के अध्ययन में पाठक की ओर से कुछ सावधानी अपेक्षित है। संस्कृत, अरबी, फारसी के शब्दों का ब्रजभाषा में जो ध्वनि- परिवर्तन हुआ है। उसके कारण तो मूल शब्द तक पहुँचने में कठिनाई हो सकती है। परंतु यह कठिनाई वहाँ और बढ़ जाती हैं जहाँ ग्रंथकार ने शब्द का व्याकरणिक रूप परिवर्तित कर दिया है। ऐसा उसे छंदानुरोध से करना पड़ा है। साथ ही ग्रंथकार ने जहाँ-तहाँ गद्य-टीका भी लिखी है।

ग) लघुकर्णाभरण: यह भी पर्याय- कोश हैं। उसका कांड तथा वर्ग-विभाजन भी तत्समान है। इस ग्रंथ में नाम-संख्या कम है। इसमें प्रयुक्त छप्पय तथा उल्लाला छंद 'कवि कर्णाभरण' से ही ज्यों-के-त्यों गृहित हैं।

ग्रंथारंभ में केवल एक दोहे में मंगलाचरण-स्वरूप राधा- नंदलाल का ध्यान करने के साथ ही लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उसने 'लघु कर्णाभरण' की रचना पाठकों के ज्ञान वर्धित करने के लिए की है।

'लघु कर्णाभरण' में क्षत्रिय वर्ग का अंतिम अर्थात 38 वाँ और कुल संख्या 244 वाँ निम्नलिखित (दोहा) छंद इस धारणा को परिवर्तित करने और इस ग्रंथ के रचनाकाल का निश्चय करने में एक महत्वपूर्ण अन्तः साक्ष्य की भूमिका निभाता है-

ISBN : 978-93-80788-90-6

पुस्तक	:	हरिचरणदास ग्रंथावली भाग-2 : कोश खण्ड
संपादक व लेखक	:	डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित
कॉपीराइट ©	:	संपादक तथा लेखक
प्रकाशक	:	शैलजा प्रकाशन 57-पी, कुंज विहार-II, यशोदा नगर, कानपुर मो. 8765061708, 9451022125 Email : shailjaprakashan@gmail.com
संस्करण	:	प्रथम, 2019
मूल्य	:	225.00
शब्द-सज्जा	:	आनंद चिंचालकर, रुद्र ग्राफिक्स
मुद्रक	:	शैलजा प्रकाशन

बरष नवासी की जु वय, कीनौ ग्रंथ नवीन।
हरि कवि बाढ़ै बाल-धी, पढ़ीहैं सुकवि प्रबीन।।

इस दोहे से यह भी स्पष्ट है कि हरिचरणदास का यह 'नवीन' और स्वतंत्र ग्रंथ है। इसका उद्देश्य बालकों की बुद्धि को विकसित करना है। इसकी उपयोगिता सुकवियों के लिए भी अपनी प्रवीणता हासिल करने के लिए है। यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि हरिचरणदास नवासी वर्ष की आयु तक रचनारत रहे हैं। उनकी मृत्यु कब और कहाँ हुई, अभी इस बात का पता नहीं चल सका है।

डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित ने हरिचरणदास ग्रंथावली में 36 पृष्ठों की भूमिका लिखी है। साथ ही इसी भूमिका में पाठालोचन की प्रविधि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। पाठ संपादन कैसे करें इसके लिए उन्होंने कुछ मुद्दे स्पष्ट भी किए हैं, जैसे 1 वर्तनी, 2 पाठ-चयन,3 पाठ- संपादन तथा पाठ-टिप्पणी लेखन आदि। लेखक ने हर पन्ने पर पाठ

टिप्पणी दी है। जिससे तीनों शब्दकोशों का अध्ययन करना आसान हो गया है।

अंत में डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित 94 वें वर्ष की आयु में सुबह तीन घंटे और शाम तीन घंटे यानी रोजाना छह घंटे तक लिखते थे। उनके जैसा पाठालोचक अब इस दुनिया में शायद ही जीवित हो। 5 फरवरी 2019 को उनका देहावसान हो गया। उनके मरणोपरांत तीन ग्रंथों का प्रकाशन किया गया है।

❖❖

संदर्भ ग्रंथ

1.हरिचरणदास ग्रंथावली, डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित, पृष्ठ. 17

2. वही, पृष्ठ 21

3.मोहनलीला, सं.श्री पं. कृपाशंकर तिवारी, पृष्ठ 20

4. हरिचरणदास ग्रंथावली, डॉ. आनंद प्रकाश दीक्षित पृष्ठ 54

5.वही पृष्ठ 27

6.वही पृष्ठ 27

7.वही पृष्ठ 156

8.वही पृष्ठ 286

रचनाकार

श्री मन्मथनाथ गुप्त
स्वाधीनता सेनानी,
चिंतक तथा साहित्यकार

डॉ. इंद्र नाथ चौधुरी
प्रख्यात सांस्कृतिक चिंतक, भाषाविद
एवं साहित्य-समीक्षक
indraushac1@rediffmail.com

डॉ. शंभू जोशी
असोशिएट प्रोफ़ेसर
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा
shambhujoshi@gmail.com

डॉ. मनोज कुमार राय
अध्यक्ष, गांधी एवं शांति
अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा
chinmay69@gmail.com

श्री हार्दिक वी. भट्ट
शोधार्थी तथा फ़िल्म अध्येता
मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई
hardik.bhatt112@gmail.com

श्री नीरज कुमार
फिल्म समीक्षक, फिल्म संपादक,
लेखक और वृतचित्र निर्माता-निर्देशक
sampaadak@gmail.com

डॉ. माधुरी जोशी
शोध निर्देशक
सहयोगी प्राध्यापक
इस्माईल यूसुफ महाविद्यालय
जोगेश्वरी (पूर्व), मुंबई-६०
madhureej@yahoo.com

श्रीमती ऊषा यादव
शोधार्थी
मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू
विश्वविद्यालय, हैदराबाद
तेलंगाना
ushayadav.741@gmail.com

श्री देवेंद्र मौर्य
प्रोफ़ेसर, गांधी एवं शांति
अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा
devendraboss108@gmail.com

श्री चंद्रमणि राय
शोध छात्र, गांधी एवं शांति
अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा
chandramanirai1995@gmail.com

डॉ. रमाकांत राय
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग
भाऊराव देवरस राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, दुद्धी, सोनभद्र
royramakantrk@gmail.com

डॉ. ओमप्रकाश शर्मा
प्राध्यापक, भूतपूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष
आबासाहेब गरवारे महाविद्यालय,
कर्वे रोड, पुणे-४११००४
contactomprakash.sharm@gmail.com

परिशिष्ट

शोधावरी शोध संदर्भ - साँचा

(प्रतिमान, समय समाज संस्कृति, समाज-विज्ञान और मानविकी की पूर्व समीक्षित अर्द्धवार्षिक पत्रिका से सविनय साभार)

हिंदी के शोध-संसार में वैसे तो अब लोग बड़े पैमाने पर संदर्भन करने लगे हैं, लेकिन अराजकता या उदासीनता अभी-भी कम नहीं है। हमारी कोशिश होगी कि लंबे अरसे में विकसित और निहायत लोकप्रिय शिकागो या हार्वर्ड मैनुअल जैसी वैश्विक संदर्भन प्रणालियों का मूलतः इस्तेमाल करते हुए उसे भाषा के स्थानीय व्यवहार के मुताबिक़ अनुकूलित करें। लेखक/लेखिकाओं से अपील है कि वे अपने आलेख का शब्द-संयोजन करते वक़्त इन चीज़ों का ख़याल ज़रूर रखें, ताकि हमें संपादन में और सजग पाठकों को पढ़ने में कम मेहनत करनी पडे। शोधपत्र में नाना प्रकार के स्रोतों को संदर्भित करने का तरीका नीचे मिसाल दे कर सिलसिलेवार समझाया गया है।

ख़याल रहे कि कुछ मामलों में हमारा तरीक़ा इन तरीक़ों से अलग है। पहली बात, हम मूल आलेख में संदर्भ न डालकर फ़ुटनोट का इस्तेमाल करेंगे, और लेख के आख़िर में एक ग्रंथ-सूची देंगे। दूसरी बात, हम फ़ुटनोट व ग्रंथावली दोनों ही जगहों पर डॉट का इस्तेमाल करेंगे, जबकि मूल आलेख में पूर्ण विराम का। और, हमारे यहाँ जैसा रिवाज़ है नाम वैसे ही रखेंगे, यानी पहले पहला नाम, फिर उपनाम, और ग्रंथावली भी हिंदी वर्णक्रमानुसार इसी ढर्रे पर चलेगी। हमारे यहाँ लेखक अपने नाम के पहले डॉक्टर/डॉ. या प्रोफ़ेसर /प्रो. लगाते देखे गये हैं, हम उनके छोटे रूप से भी परहेज़ करेंगे, सिवाय प्राथमिक स्रोतों के, जैसे मोती बी.ए, अगर अपने तख़ल्लुस के साथ

लिखते थे तो हम उनकी तमाम रचनाएँ मोती बी.ए, के नाम से ही डालेंगे। संक्षेप में नाम लिखते समय डॉट का प्रयोग करें और स्पेस न दें, जैसे :जी.पी.श्रीवास्तव, न कि जी. पी. श्रीवास्तव। विख्यात संस्थाओं या देशों के नाम लिखते समय डॉट लगाने की आवश्यकता नहीं है, जैसे : यूनेस्को, न कि यू.एन.ई.एस.सी.ओ. ; या यूके, न कि यू.के.।

हम नुक़्ते का प्रयोग भी करेंगे, क्योंकि यह कुछ अंग्रेज़ी और उर्दू शब्दों के लिए ज़रूरी है। मिसाल के तौर पर, ज़ुल्फ़क़ार बुख़ारी, ज़िज़ेक, ज़ीटीवी, क़यामत, फ़रमाइश, ग़ज़ल, ख़याल, वग़ैरह। उसी तरह, हम हमेशा अर्धचंद्र या चंद्रबिंदु का इस्तेमाल करेंगे, जहाँ भी लगता है, जैसे कि 'फ़ुटबॉल' या 'ऑल इंडिया रेडियो' या फिर 'हँसना' या 'पाँच' में। ख़याल रहे कि अगर किसी भी उद्धृत दस्तावेज़ में अगर नुक़्ते/चंद्रबिंदु का इस्तेमाल मूल में नहीं हुआ है तो हम अपनी तरफ़ से न लगाएँ। उसी तरह अगर देसी पंचांग/संवत का प्रयोग हुआ है तो उसी का इस्तेमाल करें। जहाँ तारीख़ साफ़ नहीं/अनुपलब्ध है, वहाँ इसका ज़िक्र ज़रूर हो। कोलन या विसर्ग लगाते समय ध्यान रखें कि उसके दोनों तरफ़ स्पेस हो। हाँ, अगर किसी अंक के तुरंत बाद विसर्ग लगाया जा रहा है तो स्पेस केवल उसके बाद आएगा। हर जगह अरबी अंकों यानी 1, 2, 3, 4 आदि का प्रयोग करें।

फ़ुटनोट में किताब के संदर्भन का क्रम :

पाद-टिप्पणी के रूप में संदर्भ का संक्षिप्त रूप इस्तेमाल किया जाएगा, लेकिन पृष्ठ संख्या अवश्य लिखी जाएगी। जैसे : लेखक का नाम (कोष्ठक में प्रकाशन का वर्ष) : पृष्ठ संख्या.

मिसाल : सुमित सरकार (1985) : 21.

लेख के अंत में दी जानेवाली संदर्भ-सूची में किताब के संपूर्ण संदर्भन का क्रम : सुमित सरकार (1985), मॉडर्न इंडिया : 1885-1947, मैकमिलन, लंदन : 1985. ज़ाहिर है कि यहाँ पृष्ठ संख्या नहीं देनी है।

अगर वही संदर्भ फ़ुटनोट में दोबारा आ रहा है, तो महज़ लेखक के नाम से काम चला सकते हैं, पर साथ में विसर्ग लगा कर पृष्ठ संख्या देना लाज़िमी होगा। अगर एक ही संदर्भ लगातार फ़ुटनोट में है, तो 'वही : पृष्ठ

संख्या' से काम चल जाएगा। अगर पृष्ठ भी नहीं बदला तो सिर्फ़ 'वही' पर्याप्त होगा। अगर लेखकों या संपादकों के दो नाम हैं तो पूरे जाएँगे, अगर दो से ज़्यादा, तो दोनों के बाद वग़ैरह लगाएँ। लेकिन पहले फ़ुटनोट और ग्रंथ-सूची में सारे नाम, पूरे जाएँगे। अगर किताब के एक से ज़्यादा संस्करण छप चुके हैं तो जिस संस्करण का इस्तेमाल हुआ है, उसके ज़िक्र के साथ कोष्ठक में मूल प्रकाशन का साल भी जाएगा। अगर एक ही रचनाकार की एक नाम से एक ही साल की दो शीर्षक-रचनाएँ उद्धृत की गई हैं तो उनके हवाले में भेद करने के लिए फ़ुटनोट/ग्रंथावली में रचना के नाम के बाद प्रकाशन वर्ष के साथ क, ख... आदि लगाया जाए।

मिसाल :

रामचंद्र गुहा (1982 क), 'फ़ॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश ऐंड पोस्ट-ब्रिटिश इंडिया : अ हिस्टोरिकल एनालिसिस', इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल, वीकली, खंड 18, अंक 44: 1882-1896

....(1982 ख), 'फ़ॉरेस्ट्री इन ब्रिटिश ऐंड पोस्ट-ब्रिटिश इंडिया : अ हिस्टोरिकल एनालिसिस', इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल, वीकली, खंड 18, अंक 45: 1940-1947

अगर किताब अनूदित है तो अनुवादक का नाम फुट्नोट और ग्रंथावली में किताब के नाम के बाद कोष्ठक में आएगा :

मिसाल : मन्ना डे (2008), यादें जी उठीं : एक आत्मकथा, अंग्रेजी से अनुवाद : रक्षा शुक्ला, पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली

संपादित किताब में छपे लेख :

मिसाल : हरीश त्रिवेदी, 'ऑल काइंड्स ऑफ़ हिंदी : दि इवाल्विंग लैंग्वेज ऑफ़ हिंदी सिनेमा', आशिस नंदी व विनय लाल (संपा.) फ़गिंरप्रिंटिंग पॉपुलर कल्चर : द मिथिक एंड दि आइकॉनिक इन इंडियन सिनेमा, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली : 51-86.

जर्नल-आदि में छपे लेख :

रचनाकार (प्रकाशन वर्ष), 'लेख का नाम', पत्र का नाम, खंड, अंक, किस पृष्ठ से किस पृष्ठ तक, आख़िर में अगर ख़ास पृष्ठ का ज़िक्र करना हो तो :

[illegible] (2001), 'इब्ने-मरियम हुआ करे कोई', बहुवचन, वर्ष 2, अंक 8 (जुलाई-सितंबर) : 110-128, 155.

पत्रिका के आलेख :

मिसाल : बजरंग बिहारी तिवारी (2012), 'केरल में दलित आंदोलन और दलित साहित्य', कथादेश, वर्ष 32 : अंक 5 (जुलाई) : 76

अख़बार में छपी रचना या रपट :

लेख : दीपानिता नाथ, 'रेडियो रिवाइंड', आई : द संडे एक्सप्रेस, नई दिल्ली, 10 अगस्त, 2008.

रपट : 'यह क्षेत्र हिंदी में संकट का समय : असगर', जनसत्ता (2005), दिल्ली, 20 मार्च : 7.

छपे हुए साक्षात्कार के हवाले के लिए : साक्षात्कार देने वाले का नाम-शीर्षक व बातचीत करने वाले का नाम उद्धरण चिह्नों के बीच किताब है तो लेखक से शुरू करके किताब वाला संदर्भन, अगर पत्रिका है तो पत्रिका वाला।

मिसाल : विश्वनाथ त्रिपाठी, 'रामविलास शर्मा 1950 में बीटीआर वाले माने जाते थे' : अजेय कुमार से बातचीत, उद्भावना (रामविलास शर्मा महाविशेषांक : संपा. प्रदीप कुमार), अंक 104 : 199. अगर बातचीत खुद लेखक/लेखिका ने की है तो ज़िक्र यूँ होगा : लेखक/लेखिका द्वारा साक्षात्कार, 13 अक्टूबर, 2005, नयी दिल्ली.

अभिलेखागार की सामग्री का हवाला :

होम डिपार्टमेंट, 42-48/नवंबर 1916, ए.जेल्स, नैशनल आकाईव्ज़ ऑफ़ इंडिया , (आगे एनएआई).

अदालती मामलों / फ़ैसलों का हवाला यूँ दिया जाएगा :

ऑल इंडिया आईटीडीसी वर्कर्स यूनियन एवं अन्य बनाम आईटीडीसी एवं अन्य, (2006), 2007 एआईआर 301, (2006) 10 एससीसी 66.

विश्वव्यापी वेब से ली गई सामग्री का हवाला यूँ दिया जाएगा :

मिसाल : विकीपीडिया पर 'पान सिंह तोमर' :

httpë//en.wikipedia.org/wiki/Paan_Singh_Tomar; 28 जुलाई 2012 को देखा गया।

अगर प्रविष्टि हिंदी में है तो उसे हिंदी में दिखाएँ : httpë// en.wikipedia.org/wiki/राजेश खन्ना. कई बार वेब पतों से नक़ल - चेपी करते हुए भारतीय भाषाओं की लिपि बदलकर अबूझ हो जाती है, जिससे बचने का उपाय यह है कि अंग्रेज़ी वेब-पते की नक़ल-चेपी करते समय देसी सामग्री को यथावत अपने वर्ड प्रोसेसर में अलग से टंकित करें।

चलती का नाम गाडी, पार्ट-4 : यूट्यूब : httpë//www.youtube.com/watch?v=KWqkCpybNLo&feature=g-vrec;30 जुलाई 2010 को संदर्भानुसार देखा/सुना/पढ़ा गया।

अगर लेख फ़िल्म-केंद्रित है, तो ग्रंथावली के साथ फ़िल्मावली भी देनी होगी, जिसमें फ़िल्म का नाम, साथ में निर्माता/निर्देशक और रिलीज़ हुए साल का ज़िक्र ज़रूरी होगा।

मिसाल : 'अब दिल्ली दूर नहीं', आरके फ़िल्म् , निर्देशक : अमर कुमार, 1957. लेकिन मूल आलेख में ब्रैकेट में सिर्फ फ़िल्म का नाम व रिलीज़ वर्ष के ज़िक्र से काम चला जाएगा : ('अब दिल्ली दूर नहीं', 1957)